अध्याय-3

प्रदर्शन कलाएँ

3.0 उद्देश्य:

सभी प्रकार के कलात्मक प्रयास एक प्रकार के चिन्ह हैं जिनके माध्यम से मनुष्य अपनी आंतरिक भावनाओं को प्रस्तुत करता है जो आम भाषण से संभव नहीं है। संगीत, नृत्य और ड्रामा जिन्हें सामुहिक रूप से प्रदर्शन कलाएँ कहा जाता है भारतीय संदर्भ में एक-दूसरे से गुंथी हुई हैं। इस अध्याय से हमें निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होगी:

- हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत संस्कृति में अंतर
- भारत के विभिन्न क्लासिकल नृत्यों में अंतर, एवं
- भारत की रंगमंच संस्कृति

3.1 हिन्दुस्तानी संगीत संस्कृति : एक अध्ययन

3.1.1 परिचय

इस अध्याय में हम हिंदुस्तानी संगीत संस्कृति के चार चरणों में हुए विकास का अध्ययन करेंगे। इसमें हम देखेंगे कि किस प्रकार संरक्षण प्रतिरूपों एवं सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में परिवर्तनों ने हिंदुस्तानी संगीत संस्कृति के विकास की पद्धति को प्रभावित किया तथा किस प्रकार दर्शक-केन्द्रित कलाओं के क्षेत्र में प्रयोगों और विवधताओं का दौर आरंभ हुआ। इस संबंध में हिंदुस्तानी संगीत एक अच्छा प्रयोगाश्रित अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसमें हम कुछ महत्त्वपूर्ण संगीतशास्त्रों के बारे में भी जानेंगे जो इन चार चरणों की अवधि में लिखे गए।

3.1.2 पूर्व-मध्यकालीन सांगीतिक परंपरा

प्रथम चरण : पूर्व-मध्यकालीन सांगीतिक परंपरा के अंतर्गत नृत्य और संगीत भक्ति-भावना को अभिव्यक्त करने के माध्यम रहे हैं। ये सामाजिक-धार्मिक रीति-रिवाजों और पर्व-त्यौहारों के इस हद तक अभिन्न अंग है कि भरतमुनि के ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' (जिसकी रचना तीसरी शताब्दी में की गई) को पांचवे वेद का दर्ज़ा दिया गया। इसका प्रभाव किसी न किसी रूप में प्रदर्शनकारी कलाओं विशेष रूप से संगीत, नृत्य और रंगमंच में देखा गया है। भारतीय नाट्य कला को 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य कहा गया है। यह (नाट्य) प्रस्तुतीकरण की कला है जिसमें वाणी, संगीत और उपयुक्त भाव-भंगिमाएँ सामंजस्यपूर्ण रूप में सम्मिश्रित रहती हैं।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचना जिसका प्रभाव मनोरंजन पद्धति पर, कलाकारों के समुदाय और उनके सरंक्षकों पर अत्यधिक रहा है वह वास्त्यायन की प्रसिद्ध कामसूत्र (पाँचवीं शताब्दी ई०) थी। यह रचना भावी पीढ़ियों के लिए एक स्थापित मानक बन गई।

(i) देवदासी प्रथा

देवदासी प्रथा प्राचीन एवं पूर्व-मध्यकालीन संगीत संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी। जैसा कि एक आधुनिक विद्वान, डॉ० के० सदाशिवम (Dr. K. Sadasivam) ने टिप्पणी की : 'इस व्यवस्था ने अपने प्रभाव द्वारा अपने विस्तार को मानवीय कला एवं विचार की अन्य कई विधाओं यहाँ तक कि राजनीति के क्षेत्र तक

फैलाया है। इसने (देवदासी प्रथा) देश की संगीत, नृत्य, रंगमंच, मूर्तिकला, चित्रकला और भाषा ज्ञान की परंपराओं को अत्यंत प्रभावित किया।' यह प्रथा किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं थी। साहित्यिक और अभिलेखीय स्रोत यह दर्शाते हैं कि इसका प्रचलन हमारे विषय के अध्ययन की अवधि में संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप में था। कालिदास अपनी रचना 'मेघदूत' में ज़िक्र करते हैं कि उज्जैन का महाकाल मंदिर नृत्यांगनाओं की पायल की झंकारों से गूँजा करता था। चीनी यात्री हुएन त्सांग (सातवीं शताब्दी ई०) ने लिखा है कि 'मुल्तान में स्त्रियाँ सूर्य-देव की पूजा में वाद्य बजाती थीं, दीप जलाती थीं तथा पुष्प और सुगंधित पदार्थ अर्पित करती थीं।

एक अरब यात्री इब्न अल-अथिर (Ibn Al-Athir) के अनुसार 10वीं शताब्दी के महमूद गज़नवी के आक्रमण के समय सोमनाथ मंदिर में 300 संगीतकारों और 500 नृतकियों की नियुक्ति थी। कई पुराण जैसे- मत्स्य, कुर्म, भागवत और शिव पुराण भगवान की पूजा के समय गायन और वादन संगीत प्रस्तुति के लिए गायिकाओं और नर्तकियों की सेवाएँ प्राप्त करने हेतु एक सूचीबद्ध व्यवस्था की स्थापना की अनुमोदन करते हैं। इन सेवाओं के लिए उन्हें पारिश्रमिक मंदिर द्वारा या तो नगद या भूमि अनुदान के रूप में दिया जाता था।

उत्तर भारत में मंदिरों के भग्नावशेष यह पुष्ट रूप में दर्शाते हैं कि इनमें से कई मंदिरों में लिंग-पूजा की प्रथा का भी प्रचलन था। लगभग सभी मंदिर जो मध्यकाल में तबाही से बच गए उत्तेजक मूर्तिकला से अलंकृत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देवदासी प्रथा शिव मंदिरों में बहुत लोकप्रिय थी। इन मंदिरों में जनन क्षमता और उपासना पद्धति तांत्रिक अवधारणा से मिल गई थी। धीरे-धीरे इसे विष्णु, बौद्ध और जैन मंदिरों द्वारा भी स्वीकार कर लिया गया। देवदासियाँ विभिन्न नामों से जानी जाती थी जैसे 'पात्र', 'माहारी', 'विलासिनी' आदि। साहित्यिक और अभिलेखीय स्रोत यह बताते हैं कि इन देवदासियों में भी श्रेणीबद्ध वर्गीकरण विद्यमान था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि देवदासी संस्था का व्यवस्थित रूप उत्तर भारत में इतना सुस्पष्ट नहीं था जितना दक्षिण भारत में। उत्तर भारत में मंदिरों को संरक्षण के अभाव में यह संस्था क्षीण हो गई।

(ii) गणिका

संस्कृत नाटक, काव्य और आख्यायिका, विशेष रूप से 'मृच्छकटिकम' (छठी शताब्दी ई०), 'कुट्टानीमतम' (9वीं शताब्दी ई०) और 'दशकुमार चरित' (10वीं शताब्दी ई०) छठी से दसवीं शताब्दी के काल के समाज के उच्च वर्ग की सांस्कृतिक गतिविधियों पर रुचिकर व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस काल में गणिकाएँ अनेक प्रकार के कलासंबंधी व्यवसायों, जिसमें साहित्यिक विमर्श भी शामिल हैं, में व्यस्त रहती थीं। ये ललित कला और रंगशिल्प का भंडार थीं इनमें विशेष रूप से वे गणिकाएँ अधिक प्रसिद्ध थीं जिन्होंने 64 कलाओं में निपुणता हासिल कर ली थी तथा प्रेम कला में विशेष ज्ञान रखती थीं। गणिकाओं का शहरी जीवन पर वचर्स व था और समाज में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

(iii) सांस्कृतिक गतिविधियों के केंद्र के रूप में मंदिर

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में मंदिर केवल पूजा का ही स्थान नहीं था। समुदायों के, मुख्य रूप से गाँवों और छोटे शहरों के, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का केंद्र भी मंदिर ही हुआ करता था। सामाजिक समारोह, राजनीतिक वाद-विवाद, यहाँ तक कि व्यवसायिक कार्य भी यहाँ होते रहते थे। मंदिरों के साथ रंगमंच, धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर बहस आदि के लिए प्रांगण आदि भी संलग्न किए जाते थे।

सातवीं शताब्दी ई० के अंत तक क्लासिकल संस्कृत नाटक और रंगमंच शिल्प अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गए थे और सुसंस्कृत लोगों के लिए रुचि की विषयवस्तु बन गए थे। कई उत्तम संस्कृत नाटक इस काल में लिखे गए जिनमें मंचीय निर्देश विस्तार से बताए गए थे जिससे यह पता चलता है कि ये दर्शकों के मनोरंजन के लिए लिखे गए। परिणामस्वरूप इस अवधि में अनेक कुशल रंगमंच कलाकार पनपे।

(iv) कलाकारों के समुदाय

कलाकारों के विभिन्न समुदायों में अभिनेता, नर्तक, गायक, वाद्य-यंत्र वादक, मूक अभिनयकर्ता, नट, बाज़ीगर, ताल-नर्तक, घुमंतु चारण, और अंत में गणिका शामिल थीं। ये कलाकार कुशल मनोरंजन की सुस्थापित परंपरा में प्रशिक्षित थे। शिल्पी, शिल्पजीवी और कुशीलव शब्दों का प्रयोग मंचीय कलाकारों और संगीतकारों के लिए किया जाता था। इनमें से अधिकतर कलाकार जिनमें गणिकाएँ भी शामिल थीं शुद्र वर्ण से होते थे।

कलाकारों के समुदाय अपनी आजीविका कमाने के लिए प्राय: शहरी केंद्रों, विशेष रूप से तीर्थ स्थलों जैसे काशी आदि में जाते थे। मनोरंजन कतार्अ ों के लिए अधिकतर मंदिरों के परिसर कला के प्रस्तुतीकरण के स्थान हुआ करते थे। इसी प्रकार रंगशालाओं में विशिष्ट संगीत गोष्ठियाँ आयोजित की जाती थीं।

(v) संगीत के स्वरूप की शैलियाँ

पूर्व-मध्यकाल की संगीत शैलियों के बारे में संदर्भ अत्यंत कम है। राजा सोमेश्वर की कृति 'मानसोल्लास', जिसकी रचना 1130 ई० में की गई, से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल तक संगीत की प्रस्तुतियाँ एक विशिष्ट क्रम में निर्धारित हो गई थीं। सात पारंपरिक गीतों का चक्र या 'सुदाक्रम' जिसमें 'कर्ण', 'एला', 'ढेंकी', 'झूम बड़ा', 'लंबक', 'रसक' और 'एकतालिका' शामिल थे तथा इसके साथ-साथ 'कांड' छंद की लंबी रचनाएँ और अंत में एक लघु गीत इस काल के संगीत समारोह के मानक रूप थे। अन्य संगीत शैलियाँ कुछ विशेष अवसरों और त्यौहारों के लिए ही थीं। उदाहरण के लिए, 'शतपदी' का प्रयोग कहानी सुनाने में होता था और 'चरचरी' का प्रस्तुतीकरण कुसुमायुध-पर्व (होली पर्व) के अवसर पर होता था।

इस काल में कई आँचलिक गीत प्रचलित थे जिन्हें विशेष ताल से जाना जाता था, जैसे दोधक, द्विपदी, गिति, चतुष्पदी। इन्हें किसी भी संगीत ताल में प्रस्तुत किया जा सकता था।

तेरहवीं शताब्दी में प्राचीन और समकालीन प्रबंध काव्य की विस्तृत व्याख्या सारंगदेव की 'संगीत रत्नाकर' में उपलब्ध है। वे 'एला', 'कण', 'वर्तनी', 'रसक' और 'एकताली' का वर्णन करते हैं जिनका द्रुत लय में प्रस्तुतीकरण किया जाता था। मध्यकाल में इनमें से कई शैलियों को उनके परंपरागत स्वरूप के साथ-साथ उन्नत रूप में भी स्वीकार किया गया। दूसरे शब्दों में मध्यकाल में कई शैलियों के स्वरूप में विकास हुआ।

3.1.3 मध्यकालीन संगीत संस्कृति

(i) संरक्षण के प्रतिरूपों में परिवर्तन

तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना ने उत्तरी भारत की सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन उत्पन्न किए। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के उपरांत नया संभ्रांत वर्ग भारत आया। क्योंकि इस वर्ग के लोग सांस्कृतिक रूप में अधिक विकसित क्षेत्र से भारत आये और उनकी परंपराएँ भी कई रूपों में उन परंपराओं से भिन्न थीं जो उत्तरी भारत में प्रचलित थी अत: इसके कारण संरक्षण के प्रतिरूपों में या संरक्षण

पद्धति में प्रबल परिवर्तन हुए। गणिकाओं की स्थिति में जिन्हें भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था इस काल में तीव्र गिरावट आई। नये सरंक्षक, जो कला और संस्कृति में तुर्की- फारसी परंपरा को प्रश्रय देते थे उन्हें संस्कृत भाषा का कोई ज्ञान और समझ नहीं थी और उनमें ऐसी ललित-कलाओं के प्रति रुचि का अभाव था जिनमें गणिकाओं को कुशलता प्राप्त थी। इसके परिणामस्वरूप गणिकाओं का समाज में प्रतिष्ठित स्थान समाप्त हो गया।

जहाँ पूर्व सल्तनतकालीन समय में संगीत अभिनय, नृत्य, और गायन का मिश्रण था और मंचकला का ज्ञान समाज के फैशनप्रिय लोगों या शौकीन लोगों के लिए एक महत्त्वपूर्ण गुण समझा जाता था, वहीं मनोरंजन की नई पद्धति में रंगमंच का कोई स्थान नहीं रहा। 'मजलिसि हुनर' (सामाजिक गोष्ठियों के लिए उपयुक्त गुण) से रंगमंच को हटा देने के कारण रगं मंच कलाकारों की स्थिति में भारी गिरावट आई। एक अन्य परिवर्तन इस काल में 'संगीत' शब्द के अर्थ में आया। अब इसमें गायन, वादन और नृत्य को ही सम्मिलित किया जाने लगा।

1220-21 ई० के दौरान मंगोल योद्धा चंगेज़ ख़ान द्वारा मचाई गई तबाही के कारण प्रमुख इस्लामिक सांस्कृतिक केंद्रों से विद्वानों, शिल्पकारों और कलाकारों के भारत में आगमन ने फारसी संस्कृति को भारत में और सशक्त बनाया। इस प्रक्रिया को प्रारंभिक सुल्तानों ने भी समर्थन दिया। परंतु इस प्रकार का सांस्कृतिक अलगाव बहुत अधिक समय तक नहीं रखा जा सका और तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फारसी संस्कृति और देशज संस्कृति और कलाओं के मध्य समीकरण की एक धीमी प्रक्रिया का आरंभ हुआ।

(ii) तुर्की-फारसी से हिंद-फारसी संगीत शैलियों की ओर संक्रमण

तुर्की-फारसी संगीत की परंपरा का स्पष्ट संक्रमण सुल्तान मुइज़्ज़ुद्दीन कैकुबाद (1287-1290) के शासन काल से आरंभ हुआ। कैकुबाद ने उन कलाकारों को संरक्षण प्रदान किया जो उसके दादा सुल्तान गयासुद्दीन बलबन (1267-87) के शासन काल में बेकार बैठे हुए थे।

समकालीन इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बरनी जिन्होंने तारीख-ए-फ़िरोज़शाही लिखी के अनुसार शीघ्र ही किलोखड़ी महल जहाँ सुल्तान दरबार-ए-आम में उपस्थित रहता था के आसपास संगीतज्ञों, सुंदर चेहरे वाले मनोरंजनकर्ताओं, मसखरों, और भाडों की बस्ती स्थापित हो गई।

बरनी आगे लिखते हैं कि भारतीय कलाकारों, दरबारी वेश्याओं, दासियों और दासों को फारसी भाषा में प्रशिक्षण दिया गया और दबार की तहज़ीबों, तौर-तरीको में शिक्षित किया गया।

उन्हें फारसी संगीत (सरोद) में भी प्रशिक्षित किया गया और वाद्ययंत्रों- चंग (Chang), रूबाब (Rubab), कमंचा (Kamancha), मस्काक (Maskak), नाय (Nay), और तंबूर (Tambur) - जो फारसी सांस्कृतिक क्षेत्र के वाद्य थे के वादन की शिक्षा दी गई। फारसी और भारतीय संगीत के विशेषज्ञों ने कौल (Qaul) और ग़ज़ल (Gazal) रूपों में सुल्तान की प्रशस्तियाँ लिखीं जिसे उन्होंने संगीत की हर धुन में प्रस्तुत किया।

बरनी द्वारा प्रस्तुत तथ्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में ये भारतीय कलाकारों के समय के साथ बदलती मांगों के अनुरूप स्वयं को ढालने के और नये संरक्षकों की रुचियों से तालमेल बिठाने के उनके प्रयासों को प्रकट करते हैं। इन्होंने फारसी भाषा में महारत हासिल कर ली जो उस समय के उच्च वर्ग की भाषा के रूप में उभरी। वे मध्य एशिया और खुरासनी संगीतज्ञों द्वारा लोकप्रिय की गई संगीत कलाओं की नवीनतम शैलियों और तकनीकों के भी विशेषज्ञ हो गए। इस कारण नटों के समुदाय को, जो पारंपरिक संगीत

के शिक्षक थे, अस्थायी धक्का लगा। परन्तु संगीत कला में अपनी प्रशिक्षक की भूमिका को उन्होंने नई कलात्मक आवश्यकताओं के अनुरूप सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक कायम रखा।

इसी काल में भारतीय और फारसी संगीत की परंपराओं में समन्वय की प्रक्रिया की भी शुरुआत हुई। बहुत सारे प्रारंभिक मध्यकालीन संगीत रूपों जैसे 'सूर्यप्रकाश' और 'चंद्रप्रकाश' का प्रस्तुतीकरण मुस्लिम संगीतकारों द्वारा किया जाने लगा। इन रूपों का वर्णन फारसी संगीतशास्त्र संबंधी ग्रंथों में भी किया गया है जहाँ इसे 'मार्ग संगीत' कहा गया है। इसका ज्ञान नायकों (संगीत विद्वान) के लिए अत्यंत आवश्यक माना गया जिसका प्रचलन उन्नीसवीं शताब्दी तक रहा। 'गीत' का तेरहवीं शताब्दी के संगीत रूपों में बहुत गहरा प्रभाव रहा, विशेष रूप से कौल (Qaul) पर जिसकी गीत से इस हद तक एकरूपता थी कि इसे गीत का ही पर्याय माना जाने लगा।

कुछ वाद्य यंत्र विशेष रूप से नाय (Nay) या शहनाई (Shahnai) भारतीय रीति-रिवाजों एवं उत्सवों से संबद्ध हो गए और इन वाद्य-यंत्रों का प्रयोग भारतीय त्यौहारों आदि पर किया जाने लगा।

संगीत के गायन व वादन के क्षेत्र की गतिविधियों की झलक अमीर खुसरों की एजाज-ए-खुसरवी में उपलब्ध है जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में की गई।

इस रचना का पूरा भाग या खंड खलजी सुल्तानों के दरबार के संगीत पर है। राजकीय मनोरंजकर्ताओं के बारे में ख़ुसरो लिखते हैं कि वादक तथा गायक सिंहासन के सबसे करीब होते थे और अपने गुंजन करते गरिमापूर्ण तार-वाद्य (String-play) से श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करते रहते थे। ऐसा कहा जाता है कि उनके सुर लोगों को उसी प्रकार आकर्षित करते थे जैसे मधुमक्खियों को शहद। खुसरो द्वारा शाही दरबार के कव्वालों का विवरण दिल्ली में विकसित हुई गीत की नई तकनीकों और लय की जानकारी प्रदान करता है। इनकी स्वयं की संगीत रचनाओं ने अरब और ईरान के संगीत रचनाओं को भी अचंभित किया। इन्होंने लय के लिए हथेलियों का प्रयोग किया इनकी कला से सर्वाधिक प्रतिष्ठित और गर्वीले गायक भी अत्यंत प्रभावित हुए।

(iii) दरबारी और लोककला परंपरा का समन्वय

चौदहवीं शताब्दी की यह एक अनूठी प्रक्रिया थी कि दरबारी और लोक संस्कृतियाँ ऐसे लोग के माध्यम से जिनका दोनों वर्गों (उच्च और साधारण) से संबंध था एक दूसरे के करीबी संपर्क में आईं। इस प्रकार की विभुतियों में खुसरो सबसे अग्रणी थे।

वे फारसी भाषा के विद्वान और एक प्रसिद्ध कवि तथा गद्य लेखक थे। बरनी उनकी गायन कला और लयकारी के प्रसिद्ध विशेषज्ञ के रूप में उनका जिक्र करता है। खुसरो अपने जीवनकाल के बहुत लंबे समय तक दरबार से जुड़े रहे। पर साथ ही उनका चिश्ती सिलसिले की सूफी ख़ानकाह से गहरा रिश्ता था जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान का सबसे प्रभावशाली स्थान था। वे शेख़ निज़मुद्दीन औलिया (मृत्यु 1325) के मुरीद (शिष्य) थे और 'समा' नामक सूफी संगीत में प्रवीण (कुशल) थे। इस प्रकार खुसरो को तुर्की-फारसी दरबारी परंपरा और भारतीय क्लासिकल और लोक संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने का दुर्लभ अवसर मिला। जो उस काल में समा (सूफी संगीत) में समन्वित हो रहे थे। उन्होंने अपने ज्ञान को मिश्रित कर कौल (Qaul), तराना (Tarana), तिल्लाना (Tillana), नक्श (Naqsh), निग़ार (Nigar), बासित (Basit), फ़र्द (fard), फारसी (Farsi) और सोह्ला (Sohla) आदि संगीत रूप को प्रचलित किया।[1]

1

इन सभी संगीत शैलियों में खुसरो ने भारतीय और फारसी संगीत-तकनीकों को मिश्रित किया। अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचने के लिए उन्होंने 'देसी' भाषा जो दिल्ली क्षेत्र की आम बोली थी, में गीतों की रचना की।

इस प्रकार खुसरों ने दो संगीत संस्कृतियों को जोडने़ का प्रयास किया, जो आगे चलकर हिन्दुस्तानी संगीत के नींव का पत्थर बनी।

इन नई शैलियों का प्रचलन कव्वालों के समुदाय द्वारा किया गया। वे तुर्की-फारसी परंपरा के अभिरक्षक बने और साथ ही उन्होंने नई शैलियों को भी लोकप्रिय बनाया। 'समा' संगीत का भारतीयकरण किया गया और इसने इन कलाकारों की सहायता से स्वयं का एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया।

इस काल में भारतीय संत कवियों ने परंपरागत 'प्रबंध' शैली को अस्वीकृत कर दिया तथा छंद, पद और दोहा शैली को अपनाया। उन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं में भी रचनाएँ आरंभ कर दी। इस प्रकार की परिस्थिति में अधिकतर संगीत शैलियों जैसे शब्द, ध्रुपद, और विष्णुपद ने कालांतर में आकार ग्रहण किए। इस प्रकार मध्यकालीन संगीत के एक बड़े भाग का विकास धार्मिक व्यवस्थाओं के अंतर्गत हुआ, परंतु यह ऐसा संगीत था जिसमें लोकप्रिय हिंदू और इस्लामिक कला परंपराओं का मिश्रण था।

खलजी शासकों के समय जो परंपरा विकसित हुई वह चौदहवीं शताब्दी में तुगलकों के शासन तक फलती-फूलती रही। इसकी झलकियाँ अरब यात्रियों इब्न-ए-बतूता और शहाबुद्दीन-अल-उमरी की रचनाओं में सुरक्षित हैं जो मोहम्मद बिन तुगलक (शासन 1325-51) के शासनकाल में भारत आये। दिल्ली के संगीतकार एक अलग बस्ती में रहते थे जिसे तरबाबाद कहा जाता था जो हौज़-ए-ख़ास के निकट स्थित थी। उनकी बस्ती (इब्न-ए-बतूता ने इसे बाज़ार कहा) संसार की सबसे बड़ी बस्तियों में से एक थी। इसी प्रकार की एक

ख 1) कौल संगीत का एक रूप था जिसकी शुरुआत अरब से मानी जाती है। इसमें पदों को लयात्मक रूप में लिखा जाता था।

2) तराना संगीत का एक रूप था जो लयात्मक संरचना में गीत के समान था। इसमें लयात्मक अक्षर विषय के साथ मिलाकर लिखे जाते थे।

3) तिल्लाना संगीत का रूप था जिसमें गीत-विषयों के स्थान पर लयात्मक अक्षरों का प्रयोग किया जाता था।

4) नक्श प्राकृत में संगीत परंपरा को नियंत्रित रखने के समकक्ष था।

5) निगार सुरावर्ती (सरगम) की प्रतिपक्ष थी।

6) बासित एक प्रकार से छंद और गीत का एक रूप थी।

7) फ़र्द तिल्लाना का एक रूप था जिसमें एकल पदों को ताल पर आधारित संगीत संरचना में सम्मिलित किया गया।

8) फारसी तिल्लाना का एक रूप था जिसमें ग़ज़ल और कसीदे के पद लयात्मक अक्षरों में प्रस्तुत किए जाते थे।

9) सोह्ला संगीत का एक रूप था जिसका प्रस्तुतीकरण उत्सवों के अवसर पर होता था। बाद में यह सिखों के धार्मिक संगीत से संबद्ध हो गया।

बस्ती या बाज़ार दौलताबाद, जो मोहम्मद बिन तुगलक की नई राजधानी थी, में स्थित थी। रुचिकर बात यह है कि इन दोनों स्थानों पर मस्जिदें थीं जहाँ प्राय: बड़ी संख्या में महिला संगीतकार आया करती थीं।

(iv) रंगमंचीय कला का पुनरुद्धार

इस काल में कुछ हद तक रंगमंचीय कला का पातुरबाज़ी (Paturbazi) के रूप में पुनरुद्धार हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि पातुर (Patur) या पातर (Patar) शब्द संस्कृत के पात्री (Patri) (अभिनेत्री) से लिया गया है। सूफी कवि मलिक मोहम्मद जायसी अपनी रचना में एक पातुर का उल्लेख करते हैं जो सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के अखाड़े (एक प्रकार की रंगशाला) में थी जिसे स्वांगी भी कहा जाता था तथा वह जोगन (एक योगिनी) की वेशभूषा और अभिनय में कुशल थी। इस तथ्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस काल में कुछ दरबारी वेश्याओं ने अलग-अलग वेशभूषा बदलने एवं स्वांग करने की कला में दक्षता प्राप्त कर ली थी। 'भगतबाज़ी' एक अन्य महत्त्वपूर्ण कला थी जो 16वीं शताब्दी के आसपास अस्तित्त्व में आई। यह वेशभूषा के अतिरिक्त अन्य अर्थों में 'भंडैती के ही समान थी। भगतबाज़ी नामक कला लंबी अवधि तक प्रचलित रही और लगभग 18वीं शताब्दी के अंत तक यह उच्च वर्ग के लोगों के लिए समय व्यतीत करने का पसंदीदा माध्यम रही।

(v) मुगल राजधानी आगरा में संगीत कलाएँ

दिल्ली के सुल्तानों के संरक्षण में जो प्रदर्शनकारी कलाएँ विकसित हुई वे दिल्ली सल्तनत के पतन के उपरांत भी कला और संस्कृति के नये केन्द्रों जैसे जौनपुर और ग्वालियर में फलती-फूलती रहीं जिनका उदय पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में हुआ। इन दोनों स्थानों पर संगीत कलाओं ने अभूतपूर्व प्रगति की। इस काल तक तुर्क-फारसी और भारतीय संगीत परंपराओं का सम्मिश्रण इस हद तक प्रभावशाली हो गया था कि इसने एक नई संगीत संस्कृति के आविर्भाव में योगदान दिया तथा जिसे समाज के समस्त वर्गों का समर्थन प्राप्त हुआ। इन सभी तत्त्वों ने अकबर द्वारा शासित आगरा के मुगल दरबार की समृद्ध शास्त्रीय परंपरा के उत्थान में योगदान दिया। अकबर ने विभिनन क्षेत्रों और देशों के संगीतज्ञों और गायकों को व्यापक स्तर पर संरक्षण दिया। उनका दरबार भारत के अलग-अलग क्षेत्रों और फारसी संस्कृति के संपूर्ण क्षेत्रों की संगीत प्रतिभाओं का विशाल संगम स्थल बन गया। दक्षिण के संगीतकार और संगीत-विशारद पन्डरीक विट्ठल उनके दरबार की विशेषताओं का 'संगीतार्णवमंदिर' के रूप में वणर्न करते हैं। अकबर के संरक्षण में आगरा संगीत कलाओं में उत्तरी भारत के एक अग्रगामी केंद्र के रूप में उभरा। ध्रुपद, विष्णुपद, ख्याल करक्का आदि का इस समय की प्रमुख संगीत शैलियों के रूप में विकास हुआ।

अकबर का काल ब्रज क्षेत्र में भक्ति काव्य एवं संगीत के विकास के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ब्रजभाषा, जो काव्यात्मक अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम तथा संगीतकारों-रचनाकारों की प्रिय भाषा थी का साहित्यिक विकास मुगल दरबार की स्थापना के उपरांत ही हुआ। यही वह काल था जिस दौरान 'अष्टछाप' के प्रसिद्ध कवि-संगीतकार जैसे हरिदास, सूरदास और नंददास फले-फूले। ब्रज क्षेत्र की महत्वत्ता इस बात में भी निहित है कि इसी क्षेत्र में ही रासलीला ने क्लासिकल दर्जा हासिल किया।

मुगलकालीन कलाकारों के समुदाय के बारे में स्रोतों में अत्यंत सीमित जानकारी उपलब्ध है। अबुल फज़ल कृत 'आइने अकबरी' से कलाकारों के बारे में कुछ सूचना प्राप्त होती है जिससे यह स्पष्ट होता है कि भारत के अधिकतर कलाकारों का संबंध ऐसी जाति या जनजाति से था जिनका व्यवसाय नृत्य और गायन था।

वे एक या एक से अधिक वाद्ययंत्र बजाया करते थे या किसी संगीत शैली को प्रदर्शित करते थे जिसके नाम पर उनकी जाति का नामकरण हुआ। उदाहरण के लिए 'हुरुकिया'- जो 'हुरुक' बजाते थे - या 'बहुरुपिया' जो भेष बदलने की कला का प्रयोग करते थे। नृत्य केवल कुछ जातियों तक ही सीमित था जैस नट्वा और कंजरी। इसके अतिरिक्त कीर्तनिया, भगतिया, भणवैय्या, बहुरूपिया और भांड को रंगमंचीय कलाकरों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

शेख फरीद भक्कारी की रचना 'ज़रवीरात-उल-खवानीन' से ऐसा प्रतीत होता है कि लुली, हुरुकी, डोमनी, कंचनी और कंचिनी गायिकाओं और नुत्यांगनाओं के प्रमुख वर्ग थे। इनमें सबसे अधिक प्रतिष्ठित कंचनी थी। ये मुगल कुलीन वर्ग के भव्य विवाह समारोहों में नर्तकी और गायिका की हैसियत से भाग लिया करती थीं। उत्सव के दौरान उन्हें मुगल हरम में प्रवेश करने तथा मीना बाज़ार जाने की भी अनुमति थी। मुगल बादशाह शाहजहाँ प्राय: ऐसे कलाकारों के संगीत का आनंद उठाते थे।

(vi) शाहजहाँनाबाद में संगीत के क्षेत्र में विकास

लगभग 17वीं शताब्दी के मध्य से कला और संस्कृति संबंधी गतिविधियों का केंद्र आगरा से शाहजहाँनाबाद हो गया। शाहजहाँनाबाद, मुगल बादशाह शाहजहाँ द्वारा बसायी गई नई राजधानी थी जो दिल्ली के नाम से लोकप्रिय थी। मुहम्मद शाह के शासनकाल में 'किला-ए-मुबारक' (लाल किले के नाम से लोकप्रिय) सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र बन गया।

संगीत-कला को इस काल में न केवल दरबार तथा अभिजात वर्ग से बल्कि आम लोगों से भी विशेष संरक्षण प्राप्त हुआ। नृत्य और संगीत लोगों के लिए समय व्यतीत करने का प्रिय माध्यम और साथ-साथ भी प्रकार के उत्सवों का आवश्यक अंग भी बन गया।

संगीत के ये माध्यम इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे कि आमोद-प्रमोद या उत्सव का कोई ऐसा अवसर नहीं होता था जब इनकी कमी का आभास हो । सूफी महफिल (महफिल-ए सामा) का उर्स के अवसर पर या महीनों की कुछ निश्चित तिथियों जैसे 'नौचंदी' के दिन संतों की दरगाह या समाधि पर नियमित आयोजन किया जाता था। जहाँ तक कि शोक के पर्व जैसे 'मुहर्रम' के लिए भी एक विशेष प्रकार के गीत-गान का विकास किया गया जिसे 'मर्सियाख़्वानी' कहा जाता था। इसके परिणामस्वरूप पेशेवर कलाकारों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई और बड़ी संख्या में विशिष्ट गायकों का उदय हुआ। ऐसा माना जाता है कि इस काल में लोकप्रिय कलाकारों की संख्या तो गिनती से भी परे थी।

एक आंकलन के अनुसार 18वीं शताब्दी में संगीत ने अपनी भव्यता और उत्कृष्टता को खोना शुरू कर दिया, साथ ही शुद्ध शास्त्रीय संगीत में और भी अधिक गिरावट आई। ऐसा कहा जाता है कि इस दौरान संगीत परंपरा व्यापक रूप में दूषित हुई। परंतु उपलब्ध साहित्यों के गहन परीक्षण से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ 'गिरावट' का आशय कुछ विशिष्ट संगीत शैलियों जैसे कि ध्रुपद की लोकप्रियता में आई कमी से है जबकि वहीं 'ख़्याल', 'तराना', 'टप्पा' और अन्य 'धुन' पर आधारित सांगीतिक रूपों की लोकप्रियता बढ़ रही थी। यह परिवर्तन किसी कौशल की कमी के कारण नहीं था क्योंकि तानसेन और 'नायक' (अग्रणी संगीतकारों) के परिवारों के विशिष्ट गायक बड़ी संख्या में इस काल में फल-फूल रहे थे। बल्कि यह परिवर्तन नये संरक्षकों के उदय से हुआ जो इस काल में सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों में हुए परिवर्तन के उपरांत प्रभाव में आये या प्रमुख हुए तथा ऐसी संगीत-शैलियों की मांग करने लगे जो दिल्ली की

लोकप्रिय संगीत परंपरा में पनपी थीं। उन्होंने अपनी विशिष्ट रूचियों और परंपराओं पर जोर दिया। इस प्रकार यह काल 'गिरावट' का नहीं बल्कि संक्रमण का काल था जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और फेरबदल हुए।

वास्तव में नादिर शाह के आक्रमण (1739) के बाद दरबारी संरक्षण में गंभीर रूप से गिरावट आई क्योंकि उसने मुगल शासक को उनके संपन्न खज़ाने, संपदा आदि से वंचित कर दियाथा। अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध यात्री दरगाह कुली खान जिन्होंने इसी काल में अपना फारसी में यात्रा-वृतांत 'मरक्का-ए-दिल्ली' लिखा, टिप्पणी करते हैं कि- 'नादिरशाह के आक्रमण के समय से जहाँनाह दीनपनाह नेशाम की संगीत महफिलों से परहेज कर लिया है और अपने दरबार में इन्हें बद कर दिया है।- ज्यों-जयों मुगल बादशाह तथा उनके कुलीनों की समृद्धि का ह्रास हो रहा था, ऐसी स्थिति में अभिजात कलाकारों को ऐसे संरक्षकों का प्रश्रय तलाश करने के लिए बाध्य होना पड़ा जो अमीर और संपन्न थे तथा ऐसे महत्त्वपूर्ण दरबारी कलाकारां को निर्वाह योग्य साधन दे सकते थे।

यह प्रक्रिया उन दरबारी तकनीकों की लोकप्रियता के लिए वरदान सिद्ध हुई जो अब तक साधारण लोगों की पहुँच से बाहर थीं। यह सच है कि कुछ हद तक संगीत में निहित शालीनता और अभिजात्य तत्त्व में गिरावट आई लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि दरबारी कलाकारों के ऐसे लोगों से अधिक संबंद्ध होने से जो साधारण वर्ग के लिए कला प्रदर्शन करते थे के परिणाम अत्यंत उल्लेखनीय हुए। सबसे महत्त्वपूर्ण यह था कि इसके कारण शास्त्रीय और लोकपरंपराओं का संगम प्रारंभ हुआ।

इस काल की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि संगीत बड़े पैमाने पर नृत्यांगनाओं और गणिकओं के प्रभाव क्षेत्र में आ गया। उनमें से अधिकतर संगीत की कला में निपुण थीं और उन्हें उस समय के विशिष्ट संगीतज्ञों द्वारा प्रशिक्षित किया गया था। दरगाह कुली खान, अपनी रचना 'मरक्का-ए-दिल्ली' में कई दरबारी नर्तकियों और गायिकाओं का उल्लेख करते हैं जिनकी प्रामणिकता और प्रसिद्धि उतनी ही जितनी उस काल के कई विशिष्ट संगीतकारों की थी जिनसे वे प्रतिस्पर्धा किया करती थीं। ये गणिकायें भव्य शैली में जीवन यापन करती थीं और उनमें से ज्यादातर ऐसे तौर-तरीकों तथा शिष्टचारों (तहज़ीब-ए-अख़लाक) में निपुण थीं जिनका पालन महिफलों में यिका जाता था।

इस काल में पेशेवर कलाकार बड़ी संख्या में थे तथा समृद्ध थे। इसकी पुष्टि समकालीन साहित्य से होता है। इनमें से अधिकतर कलाकारों को उच्च वर्ग में सम्मानित स्थान प्राप्त था।

संगीत कला समाज के सभी वर्गों में प्रशंसित थी। संगीत गोष्ठियों में बड़ी संख्या में श्रोता आते थे। जैसा दरगाह कुली खान बताते हैं कि लोग सुबह से ही ऐसी सभाओं में आना प्रारंभ कर देते थे। बसंत का त्यौहार, जो बंसत ऋतु के प्रारंभ होने के उपलक्ष्य में मनाया जाता था, दिल्ली के प्रदर्शनकारी कलाकारों के लिए कला-प्रदर्शन का एक सुनहरा अवसर होता था। इस दिन से जो समारोह और चहल-पहल शुरु होती थी वह पूरे एक सप्ताह तक चला करती थी।

यह काल 'ख़्याल-गायकी' के विकास के लिए ख़ासतौर से महत्त्वपूर्ण है। इसे पूर्णता देने तथा लोकप्रिय बनाने का श्रेय नियामत ख़ान सदारंग को है जो मुगल बादशाह मोहम्मद शाह के दरबार के विशेष संगीतकार थे तथा बीते दिनों के नायकों के समकक्ष माने जाते थे। 'ख़्याल' की लोकप्रियता में वृद्धि के कई कारण थे जिनमें इसकी लयात्मक विविधता को अपनाने की क्षमता सबसे महत्त्वपूर्ण थी। 'कवीत्त', 'तराना' और 'जंगला' दिल्ली की अन्य लोकप्रिय शैलियाँ थीं। भांड अच्छे नर्तक और संगीतकार थे। स्वांग रचने वालों

की प्रस्तुतियाँ तथा भांड (जिन्हें नक्काल के नाम से भी जाना जाता था) जो भँडैती के रूप में विख्यात थे किसी समारोह या प्रदर्शन में नृत्य तथा संगीत की तरह ही महत्त्वपूर्ण थे। भंडैती नृत्य, संगीत और हास्य-विनोद का मिला-जुला रूप था।

कव्वाली सूफी महफिलों (महफिल-ए-सामा), 'उर्स' तथा अन्य उत्सवों का अभिन्न अंग थी। 'सामा' संगीत का असल संबंध ख़ानक़ाहों से था जहाँ अध्यात्मिक आनंद की अनुभूति के लिए इसे प्रस्तुत किया जाता था। 'कौल', 'तराना', 'तिल्लाना', 'सोहला' और इसी प्रकार के गीत-रूप जिनकी रचना अमीर खुसरों ने की थी 18वीं शताब्दी में शाहजहाँनाबाद में समन्वित कला-प्रदर्शन परंपरा में एकीकृत हो गए और क़व्वालों के नाम पर कव्वाली के रूप में जाने गए। क़व्वाल वे कलाकार थे जिनसे 'कालै -तराना' तथा इसी प्रकार के अन्य संगीत रूपां को संबद्ध करके देखा जाता था। 'क़व्वाली' ने कई तरीकों से 'ख़्याल' के शैलीगत लक्षणों को समाहित किया।

इस काल में वाद्य संगीत में भी कई परिवर्तन दिखाई पड़े। बीनकारों (वीणा वादक) की संख्या में कमी आई तथा सितार वादन दिनोंदिन लोकप्रिय होता गया। सारंगी वाद्य-यंत्र गणिकाओं के गीतों की संगत के लिए महत्त्वपूर्ण बनता गया। इस काल में कुछ नई वाद्य शैलियों का भी विकास हुआ।

जो संगीत प्रवृत्तियाँ दिल्ली में स्थापित हुईं उन्होंने अन्य स्थानों जैसे लखनऊ में पूर्णता प्राप्त की जो 18वीं शताब्दी के अंत में उत्तर भारत में एक प्रमुख सांस्कृतिक केंद्र के रूप में उभरा। शास्त्रीय नृत्य की परंपरा को अवध में पुनर्जीवित किया गया। एक नृत्य शैली के रूप में कत्थक यहीं विकसित और नियमबद्ध हुआ तथा नवाब वाजिद अली शाह के संरक्षण में सभा-भवन की कला के रूप में प्रतिबिंबित हुआ। क्षेत्रीय गायन शैलियाँ जैसे 'टप्पा', 'ठुमरी' और 'दादरा' को परिष्कृत किया गया तथा लखनऊ में सर्वाधिक लोकप्रिय गायन शैलियों के रूप में विकसित किया गया। 'मर्सिया-ख़्वानी', संगीत शैली जो मुहर्रम से संबद्ध थी, 18वीं शताब्दी में एक स्थापित कला के रूप में विकसित हुई तथा 'सोज़-ख़्वानी' के नाम से प्रचलित हुई।

उत्तरी भारत के नगरीय रंगमंच ने भी नवाब वाजिद अली शाह के सरंक्षण में लखनऊ में एक नया आकार ग्रहण किया। परंतु यह मिर्ज़ा अमानत की 'इंदर सभा' थी, जिसकी उत्पत्ति अवध दरबार के बाहर हुई, जिसने रंगमंच को एक निश्चित दिशा दी। कालांतर में नृत्य, नाटक और रंगमंच की इस समन्वयीकरण प्रक्रिया ने ही बंबई में पारसी-थियेटर का मार्ग प्रशस्त किया।

3.1.4 ब्रिटिश शासनकाल के दौरान संगीत

(i) संगीत संरक्षण में परिवर्तन

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद संगीत संरक्षण में आधारभूत परिवतर्न हुए। स्थानीय शासकों के विरुद्ध ब्रिटिश कार्रवाई ने दरबारी संगीत-जीवन का बड़े पैमाने पर तिरस्कार कर प्रदर्शनकारों के समुदायों को अभिजात वर्ग के संरक्षण से वंचित कर दिया। नए प्रशासकों ने 'देशी' प्रदर्शनकारी कलाओं में अत्यंत कम रुचि दिखायी तथा उन्होंने प्रदर्शनकारी महिला कलाकारों को सामान्य वेश्याओं की तरह मान लिया; उन्होंने 'लास्य' और 'भाव-अभिनय' के नृत्य-निरूपण को कामुकता का पद्र शर्न मात्र समझा। नये शिक्षित वर्ग ने भी इन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखा। इतना ही नहीं इस काल में ऐसी रूढ़िवादिता का दौर हावी हुआ जहाँ इस प्रकार की समस्त प्रदर्शनकारी कलाएँ इस हद तक यौन नैतिकता के दर्पण में देखी जाने लगीं कि प्रतिष्ठित दरबारी गणिकाओं ने नृत्य प्रदर्शन ही बंद कर दिया। इस प्रकार प्रतिष्ठित गणिकाओं ने अपना स्थान और संरक्षण खोना आरंभ कर दिया। अब समाज के निम्नतर पायदानों से संरक्षकों के नए वर्गों ने

इन कलाओं तथा इनके अभ्यासकर्ताओं को संरक्षण प्रदान करना आरंभ किया। इस प्रकार नये संरक्षक वर्ग के उदय ने कुछ परंपराओं के जीवित बचे रहने में योगदान दिया।

हालांकि गायन संगीत (Vocal Music) पूर्ण रूप से अभिजात वर्ग के संरक्षण से वंचित नहीं हुआ किंतु यह केवल भारतीय राजकुमारों के दरबारों तक ही सीमित रहा। इस प्रकार के संरक्षण ने गायन संगीत को भी जीवंत बनाये रखा। इन राजकुमारों के समुचित प्रशंसा एवं उदार संरक्षण के अभाव में यह लगभग पूरी तरह विलुप्त हो सकता था।

(ii) भारतीय संगीतशास्त्र में ब्रिटिश विद्वानों का योगदान

पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय संगीत का विस्तृत अध्ययन किया तथा पेशेवर कलाकारों के व्यवहार में प्रचलित अनेक सांगीतिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने 18वीं से 20वीं शताब्दी के मध्य की भारतीय संगीत की प्रवृत्तियों और परंपराओं के विकास का अध्ययन किया। उन्होंने निश्चय ही छुपे खज़ाने को प्रकाश में लाने का कार्य किया। विदेशी लेखकों ने भारतीय संगीत के ऐतिहासिक और रंगमंचीय पहलुओं पर लिखा जिसका उन लेखकों पर गहरा प्रभाव पड़ा जो अंग्रेज़ी भाषा के जानकार थे। उनके लेखन ने लोगों की भारतीय संगीत में गहरी रुचि उत्पन्न की। कई पुराने ग्रंथों का अंग्रेज़ी तथा कई अन्य भाषाओं में अनुवाद किया गया। सर विलियम जोन्स ने 1784 ई० में 'एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना की। वह एक महान अध्येता तथा संगीत के सिद्धांतों से परिचित थे। उनका निबंध 'The Musical Modes of the Hindus' (1793), भारतीय संगीत के अध्ययन में किसी अंग्रेज़ लेखक का प्रथमतम और अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान है। क्लेमेंट और सांगली के देवल ने संगीत पर कई पुस्तकों का संपादन किया। क्लेमेंट उनमें से एक थे जिन्होंने पश्चिमी विद्वानों के नज़रिये से आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक मानकों के नये क्षेत्रों को खोला।

कैप्टन एन०ए० विलर्ड जो बाँदा के नवाब की सेवा में कार्यरत थे उन शुरुआती अध्येताओं में थे जिन्होंने हिंदी और उर्दू की सांगीतिक रचनाओं के उदाहरण संकेत चिह्न समेत प्रस्तुत किए। उन्होंने भारतीय संगीत के कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों का कोश भी तैयार करने का प्रयास किया। वे एक प्रसिद्ध पुस्तक 'A Treatise on the Music of Hindustan Comprising a detail on the Ancient Theory and Modern Practice' के लेखक थे जो 1834 में प्रकाशित हुई। इसका 18वीं शताब्दी के अंत के लेखकों पर अत्यंत गहरा प्रभाव पड़ा।

(iii) संगीत के क्षेत्र में भारतीय अध्येताओं का योगदान

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुछ प्रतिष्ठित भारतीय विद्वानों ने भारतीय संगीत का अध्ययन प्रारंभ किया। उनमें सर एस०एम० टैगोर (S.M. Tagore) संगीत को संरक्षण देने के लिए प्रसिद्ध हैं। 1867–1896 के दौरान उन्होंने संगीत पर कई पुस्तकों का प्रकाशन किया। उनमें से 'The Universal History of Music' तथा 'Hindu Music from Various Authors' मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। 'सूरसागर' जैसी महान गीतों की पुस्तक के प्रकाशन तथा 'पुष्टि मार्ग' के गीतों की पुस्तकों के इस काल में प्रकाशन ने प्राचीन संगीत रचनाओं में शिक्षित वर्ग की रुचि पुनः पैदा की।

भारतीय संगीत के अध्ययन में पंडित विष्णु दिगंबर ने उल्लेखनीय योगदान दिया। वे ग्वालियर घराने के महान संगीतज्ञ और मेधावी संगीतकार तथा पंडित बालकृष्ण बुवा के विद्वान शिष्य थे। ये पंडित विष्णु दिगंबर थे जिन्होंने संगीत को भौंडे प्रबंधकों के हाथों से बचाया तथा शिक्षित वर्ग में लोकप्रिय बनाया। उन्होंने पंडित भातखंडे तथा अन्य कई विद्वानों के लिए सिद्धांत निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया।

पंडित भातखंडे ने वर्तमान हिंदुस्तानी संगीत पद्धति की मज़बूत नींव रखी। उनकी 'हिंदुस्तानी संगीत पद्धति' संगीत के सिद्धांत को वर्णित करती है। इसमें उन्होंने प्रत्येक राग के रूप गठन में ऐतिहासिक विकास तथा संक्रमणों को उजागर करने की कोशिश की है। इन रागों की संख्या 2500 है। यह एक अत्यंत कठिन और बड़ा कार्य था। इस समय तक शास्त्रीय संगीत उस्तादों तक ही सीमित था तथा इसमें बहुत कम लोगों की ही रुचि थी। पर अब इसे शिक्षित वर्ग द्वारा भी सराहा जाने लगा। रंगमंचीय कला को भी इस नये परिदृश्य में ऊर्जा मिली तथा उभरने का अवसर मिला।

3.1.5 आधुनिक काल

(i) संगीत की व्यापक लोकप्रियता

आधुनिक भारत में संगीत के प्रति जनसाधारण में भी जागृति उत्पन्न हुई है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के प्रयासों से संगीत ने भारतीय समाज में फिर से पहले की तरह का सम्मान प्राप्त कर लिया है। अब इसे सम्मानित परिवार के सदस्यों तथा महिलाओं तक ने भी सीखना आरंभ कर दिया है। आज संगीत को रेडियो और टीवी ने दूरदराज के क्षेत्रों में भी लोकप्रिय बना दिया है। संगीत के इस प्रचार में फिल्मों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। बड़े महानगरों में कई संस्थाओं की स्थापना की गई है जो संगीत को समर्पित हैं। ये संस्थाएँ दुलर्भ संगीत प्रबंध-ग्रंथों को संस्कृत, फारसी, उर्दू तथा अन्य भाषाओं में प्रकाशित कर रही हैं। संगीत के क्षेत्र की गहन जानकारी प्राप्त करने के लिए नृकुल संगीत शास्त्र (Ethnomusicology) की शाखा का गठन किया गया है। इसका कारण यह है कि संगीत किसी स्थान विशेष तक सीमित नहीं है और न ही यह एक शैली का है। भारतीय तथा विदेशी विश्वविद्यालय नृकुल संगीतशास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर संगोष्ठियों का आयोजन नियमित तौर पर करते रहते हैं जिनमें संगीत के विद्वानों के अलावा विभिन्न वाद्ययंत्रों के वादक तथा नर्तक सक्रिय रूप से शामिल होते हैं। संगीत कला की बढ़ती लोकप्रियता इस बात से भी आंकी जा सकती है कि आज जनता शिक्षा-व्यवस्था में संगीत को शामिल करने की मांग कर रही है परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि फिलहाल इस प्रयास को आंशिक सफलता ही मिली है।

(ii) हिंदुस्तानी संगीत में पश्चिमी वाद्य यंत्रों का प्रयोग

कुछ पश्चिमी वाद्य यंत्रों जैसे वायलिन, हारमोनियम, गिटार, मैंडोलिन तथा क्लेरीनेट आदि का हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत प्रस्तुतियों में व्यापक प्रयोग होने लगा है। 'ठुमरी' और 'ख़्याल' के सहयोगी के रूप में हारमोनियम का प्रयोग 18वीं शताब्दी के आरंभ से ही लोकप्रिय हो गया था। इसने कई प्रसिद्ध कलाकारों जैसे भैया गनपत राव को उदयीमान किया है।

आधुनिक ऑर्केस्ट्रा तथा सामुहिक वृंद गायन विशुद्ध रूप से पश्चिमी देशों का अनुकरण है। वृंद वादन के रूप में वाद्य प्रस्तुतियाँ भारतीय परंपरा में विद्यमान रही हैं और 'वृंद' के नाम से जानी जाती हैं किंतु ऑर्केस्ट्राकरण में आधुनिक तकनीकों के रूप में इसके विकास पर पश्चिम का प्रभाव है।

यह तत्त्व प्रमुख रूप से भारतीय सुगम संगीत, मुख्यत: फिल्मों में, परिलक्षित होता है। इसमें पश्चिम के कई वाद्य यंत्रों का समावेश भी देखा जा सकता है।

3.1.6 उपसंहार

भारतीय संगीत दूसरे देशों में, ख़ासकर पश्चिम में असीमित लोकप्रियता प्राप्त कर रहा है। हालांकि भारतीय कलाकार पश्चिमी देशों में समय-समय पर जाते रहे हैं पर पश्चिमी देश भारतीय संगीत के कभी इतने दीवाने नहीं हुए जितने पिछले तीन दशकों में हुए हैं। इस लोकप्रियता का श्रेय पंडित रविशंकर, डागर बंधुओं, उस्ताद ज़ाकिर हुसैन, उस्ताव अमजद अली ख़ान, उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ान तथा उन लोगों को जाता है जिन्होंने पश्चिमी लोगों को भारतीय संगीत भारतीय रूप में समझाया। संगीत संस्थाओं जिनका गठन प्रतिष्ठित नर्तक जैसे बिरजू महाराज, सोनल मान सिंह तथा अन्य कई लोगों ने किया, ने भी भारतीय शास्त्रीय नृत्यों को पूरे संसार में लोकप्रिय बनाया है। आजकल की संगीत संस्कृति व्यवसायिक तथा मशीनी प्रतीत होती है क्योंकि इसने स्वयं को स्वकेंद्रित या स्वयं के हितों तक सीमित कर लिया है परंतु फिर भी इस तथ्य को स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतीय संगीत वास्तव में विश्वव्यापी हो चुका है।

अभ्यास-1

(अ) निम्नलिखित के लिए 'सही' या 'गलत' बताईये:

(i) भारतीय परंपरा में नृत्य और संगीत भक्ति व्यक्त करने के माध्यम हैं।

(ii) देवदासी प्रणाली बौद्ध मंदिरों में अधिक लोकप्रिय होती प्रतीत होती है।

(iii) कई कलाकार, संगीतकार जिसमें गणिका भी शामिल हैं मुख्य रूप से क्षत्रिय वर्ग के थे।

(iv) नादिर शाह के आक्रमण के बाद संगीत के सरंक्षण में भारी कमी आई।

(v) कव्वाली सूफी समारोहों, उर्स तथा अन्य त्यौहारों का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी।

(ब) निम्नलिखित रचनाओं के लेखकों के नाम बताईये:

(i) कामसूत्र (ii) तारीख-ए-फिरोज़शाही

(iii) मरक्का-ए-दिल्ली (iv) हिंदुस्तानी संगीत-पद्धति

(स) दीर्घ प्रश्न:

1. भारत में मध्यकालीन संगीत संस्कृति की प्रकृति का वर्णन कीजिए।
2. विशेष रूप से हिंदुस्तानी संगीत के संदर्भ में ब्रिटिश काल की संगीत संस्कृति का वर्णन कीजिए।

संदर्भ सूची

1. जी.एच. रानाडे, "हिंदुस्तानी म्यूज़िक (एन आउटलाइन आफॅ इट्स फिजिक्स एंड एस्थेटिक्स", एस.एल एण्ड कं., दिल्ली 1951, द्वितीय संशोधित संस्करण, 1989
2. मधु त्रिवेदी, "हिंदुस्तानी म्यूज़िक एंड डाँस : एन इक्ज़ामिनेशन ऑफ सम टेक्स्टस इन द इंडो-पर्सियन ट्रेडीशन", 'द मेकिंग ऑफ इंडो-पर्सियन कल्चर, इंडियन एंड फ्रेंच स्टडीज' में शामिल (संपा०) मुज़फ्फ़र आलम, फ्रांसवाज, 'नलिनी' देलवोय एव मार्क गाबोरिय, मनोहर, दिल्ली, 2000
3. मधु त्रिवेदी, "फीमेल परफॉर्मिंग आर्टिस्ट्स इन नॉर्थ इंडिया : ए सर्वे", आर्ट एंड कल्चर, में शामिल, खंड-II, (संपा०) अहसान जान कैसर एवं सोम प्रकाश वर्मा, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, 2002
4. मधु त्रिवेदी, "इम्पीरियल आगरा एज़ द कल्चरल नोड : लेट 16th टू अर्ली 17th सेंचुरी, काज़ी नुरुल्लाह शुस्तारी पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोधपत्र, आगरा, 18-20 जनवरी, 2003

5. _____ "कल्चरल लिंग्वीस्टिक एंड लिटरेरी डाइमेंशन ऑफ द पोयट्री ऑफ द वैष्नवा सेंट्स ऑफ द ब्रज रीजन", "सूफी एण्ड भक्ति मूवमेंट्स इन मीडिवल इंडिया" के सेमिनार में प्रस्तुत, अलीगढ़, 2004

6. _____ "लखनऊ : द 19th सेंचुरी कल्चरल हब ऑफ नार्थ इंडिया", "रिलीजन, कल्चर एण्ड सोसाइटी : नार्थ इंडिया इन द 19th एंड 20th सेंचुरीज़", जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली, 2004

7. नज्मा परवीन अहमद, 'हिंदुस्तानी म्यूज़िक', मनोहर, दिल्ली, 1984

3.2 दक्षिण भारत में संगीत संस्कृति

3.2.1 भूमिका

यदि हम अवलोकन करें तो शायद यह हमें अजीब लगे कि केवल संगीत ही ऐसा महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कारक है जिसके आधार पर भारत में कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत व्यवस्था में विरोधाभास देखने को मिलता है। संगीत आज भी भारतीय सांस्कृतिक एकता का एक मजबूत आधार है जिसे दक्षिण भारत या दक्षिण प्रदेश कहा जाता है। यह सांस्कृतिक धरोहर पल्लव-चोल काल जब 'नयनार' और 'अल्वर' संतों ने अपने गीत गाये से आज के समय तक विद्यमान है और दक्षिण भारत के चार भाषायी राज्यों को क्षेत्रीय रूप में जोड़ती है। भारत की देशी सांस्कृतिक परंपरा ने सदैव दक्षिण में ही आश्रय ढूंढने् का प्रयास किया है। यदि इतिहास के या शोध के परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण से देखें तो जो धरोहर तमिलनाडू और केरल में परिलक्षित है वह पूरे भारत के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

यह सर्वमान्य है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत का उद्भव सामवेद से माना जाता है। 'सामा' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'साम' शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'एक स्तर पर सुसंगत' होता है। 'सामा' का एक अन्य अर्थ 'एक गीत' है। 'सामा' ने 'माटू' या 'गीतां` के बोल' ऋग्वेद से लिए हैं पर 'धातु' या 'संगीत का सृजन' इसका अपना योगदान है। भारतीय शास्त्रीय संगीत को सामवेद का मुख्य योगदान इस प्रकार है- (1) एक सांगीतिक सरगम (2) 'मूरचना के बीज या स्वरग्राम (3) सौंदर्यबोध के तत्त्व (4) 'ताल' के तत्त्व और (5) स्वरांकन की प्रणाली।

3.2.2 दक्षिण भारत में संगीत संस्कृति

संगम काल के विशिष्ट क्लासिक्स संगीत के प्रिय विषय हैं। इसी संदर्भ में 'शिल्पादिकारम' नामक रचना संगीत की एक विस्तृत तस्वीर प्रस्तुत करती है। यह रचना 'इयाल', 'इसाइ' और 'नाटकम्' का सुखद मिश्रण है। इस रचना में 'पन्न' (या राग) के उत्थान, उनकी ग्यारह विशेषताएँ, विभिन्न रागों के स्वर, तीन प्र थमिक सरगमों पर अभ्यास, बारह रासियों में निहित अष्टक के बारह विभक्त रूप, इन सभी का इस रचना में तमिल संगीत शास्त्रियों के अनुसार वर्णन किया गया है परन्तु इस संदर्भ में कुदुमियामलाई (पुदक्कोट्टयी) में मिला अभिलेख अत्यधिक रूचिकर है। विद्वानों के अनुसार यह अभिलेख पल्लव शासक महेन्द्र वमर्न प्रथम का है। महेन्द्र वमर्न की संगीत में रूचि उनकी 'मत्तविलास प्रहसन्ना' में वर्णित 'नृत्तम', 'तालम' और 'लयम्' शब्दों से हो जाती है।

अभिलेख में जिस संगीत का उल्लेख है वह 'अभ्यास गण' क्षेत्र से संबंधित है। इसका उद्देश्य वीणा संगीत (चतुष्प्रकार - स्वरगम) के लिए उँगलियों को अभ्यस्त करना है। 'वीणा' का नाम 'परिवादिनी' था जो सात तारों वाली 'वीणा' को कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि जब अभिलेख लिखा गया उस काल तक संगीत का विभाजन हिन्दुस्तानी और कर्नाटक शैली में नहीं हुआ था। 750 ई० के एक अभिलेख जो नंदीवर्मन पल्लव तृतीय का है यह बतलाया है कि 'तिरूपथीगम' (ईश्वर की स्तुति में गायन) 8वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध से मंदिर पूजा-अर्चना का भाग बन चुका था।

पवित्र मंत्र जिनकी रचना प्रथम तीन 'समाचार्य' ने की को गायन रूप में प्रस्तुत करने वाली संस्था 9वीं शताब्दी में स्थापित हुई और उनकी मूर्तियों को प्रतिष्ठित करने की परंपरा की शुरूआत 10वीं शताब्दी से हुई। धार्मिक उत्साह के प्रवाह में उनकी 11वीं, 12वीं और 13वीं शताब्दियों में उनके विकास में और अधिक तीव्रता आई। 'नयनारों' में, ज्ञान संबधं का अपने समकालीन नीलकांत से करीबी नाता था जो वीणा 'यज्हपनार' के वादन में निपणु था। इसी पक्र रण से जुड़ी एक कहानी के अनुसार संबंध के संगीत स्वरों में एक स्वर को 'यजह' वाद्य-मंत्र पर नहीं बनाया जा सका।

आनय्या नयनार के अपने बांसुरी के संगीत से शिव की उपासना की। इस काल के संगीत को वैष्णव अल्वरों ने भी अपने गीतों के रूप में प्रस्तुत किया जिन्हें गाया और वीणा पर बजाया जाता था तथा परंपरा के अनुसार भाव-भंगिमाओं द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता था। इस प्रकार हम देखतें हैं कि यहाँ भी संगीत परंपरा को वीणा से संबद्ध करके देखा गया।

आजकल वैष्णव भजन बिना संगीत के गाये जाते हैं जबकि वहीं शैव भजन जिन्हें 'तेवरम' कहा जाता है आज भी संगीत रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। 'तेवरम' संगीत को नये काल में प्रचलित संगीत परंपरा के आधार पर बार-बार नया नाम दिया गया। 1742 ई० की तिरूवाटुटुराइ मठ के ताड़ पत्र अभिलेख में निम्नलिखित पुराने गीतों की सूची दी गई जिसका आधुनिक नामकरण भी साथ ही दिया जा रहा है।

दिन के दस 'पन्न' (राग)

1.	पुरानिरमई	-	श्रीकांति
2.	गांधारम	-	हेज्जुज्जी
3.	कौसिका	-	भैरवी
4.	इंदालम	-	ललित पंचमी
5.	टक्केसी	-	कामबोधि
6.	नट्टराग	-	पांदुवरली
7.	नट्टपादाई	-	नाटाईकुरिंजी
8.	पजहम पंचुरम	-	शंकरभरनम
9.	गंधारपंचामम	-	केदारगोलाम
10.	पंचानन	-	अहिरी

रात्रि के आठ पन्न (राग)

11.	तक्कारगा	-	कन्नड़ कंबोधि
12.	पजहम तक्कारगा	-	सुहधासवेरी

13.	सिक्कामरम	–	नादानामक्रिया
14.	तिरुवृत्तम	–	सिंधु कन्नड़
15.	व्याजह–कुरिंचि	–	सौराष्ट्र
16.	मेगारग कुरुंचि	–	नीलांम्बरी
17.	कुरिंजी	–	मालाहरी
18.	आंधालि कुरिंजी	–	शैलदेसकी

तीन सामान्य पन्न (राग)

19.	सेव्वाजी	–	यदुकुल कंमबोधि
20.	सेंतुरुथ्थी	–	माध्यमावती
21.	तिरुतंडकम	–	बेगड़

शैव संप्रदाय के नयनारों के पवित्र तमिल भजन जिसे 'तेवरम' कहा जाता है तथा जिसे 'तमिल वेद' रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है, पल्लव काल में अधिक से अधिक संकलित हुए और बाद में चोल राजाओं राजराज प्रथम और राजेन्द्र प्रथम के काल में नांबी अंदर नांबी द्वारा एकत्रित और संहिताबद्ध किए गए। उनके गायन को मंदिर में व्यवस्थित करने वाली संस्था जिसकी शुरूआत 750 ई० में हुई उसका और अधिक विकास किया गया तथा इसे नियमित रूप से राज्यों द्वारा नियंत्रित किया गया। राजकेसरी का पालुर अभिलेख, परांतक का तिरुवादुथुराई अभिलेख, उत्तम चोल का अंदानालुर अभिलेख गायन और गायकों को दिये जाने वाले धनदान या वृत्तिदान के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। चोल राज्य में 'तेवरम' हेतु एक राजकीय निरीक्षक की नियुक्ति की गई थी जिसे 'तेवरनायकम' कहा जाता था। वैष्णव संप्रदाय के पवित्र भजन जिन्हें 'तिरुव्योमोज्ही' (Tiruvoymozhi) कहा जाता था के प्रचलन के भी साक्ष्य अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। इसमें चोल काल के विशिष्ट गीतकारों के अभिलेख शामिल हैं। इस काल में शाही गीतकार जैसे गणदारादित्य और सदायप्पा वल्लाल जैसे संरक्षक थे जिन्होंने 'कंबन' को संरक्षण प्रदान किया। शब्द जैसे 'विनायखनी', 'गेय–विनोद–वल–नाडु', 'नृत्त विनोद' आदि चोल काल में व्याप्त संगीत और नृत्य की महत्वत्ता को इंगित करते हैं।

इसी प्रकार चालुक्य राजा सोमेश्वर तृतीय ने एक प्रकार के विश्वकोश की रचना की जिसे 'मनोसोल्लास' या 'अभिलाषतीर्थ–चिंतामणि' कहा जाता है। इसकी 1131 ई० में रचना की गयी। यह चित्रकला विषय पर उपलब्ध कुछ रचनाओं में से एक है। इस रचना के एक भाग में संगीत और नृत्य का भी वर्णन है। इस रचना ने भावी रचनाओं जैसे 'शिव–तत्त्वरत्नाकर' और 'शिल्परत्न' को भी प्रकाशित किया इस रचना में अनेक संगीतकारों जैसे सारंग देव और पार्सव देव का उल्लेख किया गया है। सोमेश्वर की कृति में वर्णित संगीत का प्रकरण जिसका उपयोग सारंगदेव ने किया वास्तव में बहुमूल्य है। उदाहरण के लिए 'गीत–विनोद', 'वैद्य–विनोद' और 'ताल–वद्यास' को अत्यंत महत्वत्ता दी गई है। सोमेश्वर की रचना में संगीत के अध्याय की शुरूआत 'प्रकीरनक' या विविध विषयों से होती है जैसे अच्छे और बुरे गीतकारों के गुण और अवगुण, आवाज की मुधरता का गुण आदि। यह विभिन्न प्रकार के गीतों की बात करती है जो लोगों को आकषिर्त करते हैं। सोमेश्वर रागों का श्रेणीबद्ध रूप में उल्लेख करते हैं। उदाहरण के लिए 'शुद्ध',

'गौड़', 'साधारण' आदि। इस रचना में न केवल रागों का ही वर्णन है बल्कि वे जिन क्षेत्रों से आती हैं उनका नाम भी दिया गया है जैसे तुरूकी टोडी आदि।

इस रचना में प्रबंध पर लिखा गया उप-भाग तुलनात्मक रूप में लंबा है और इसमें निदर्शी या उदाहरणात्मक रचनाएं शामिल हैं। इस संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्तुतिकरण कर्नाटक भाषा के गीत जैसे सतपदी, कांड और वर्ण है जो इसी भाषा में ही सोमेश्वर की रचना में दिए गए हैं।

सोमेश्वर प्रसिद्ध लोकगीतों का भी वर्णन करते हैं जैसे त्रिपदी (प्रेम और बिछोह), सतपदी (गाथा), धवला (विवाह-गीत), मंगल (त्यौहार के गीत), राहादी (सैनिक), और दांडी (चरवाहा) आदि। इसके अतिरिक्त वाद्य और तालवाद्य को भी रचना में यथोचित स्थान दिया गया है। सोमेश्वर के पुत्र जगदगमल्ल प्रतापचक्रवर्ती ने 'संगीत चूड़ामणि' लिखी जो आज राजस्थान के बीकानेर अभिलेखागार में पाण्डुलिपि रूप में उपलब्ध है। इसी प्रकार एक अन्य चालुक्य राजा ने संगीत से संबंधित 'संगीत सुधाकर' की रचना की।

देवगिरी के यादव शासकों में राजा सिंहन (1210-1247 ई०) के संरक्षण में कश्मीर के सारंगदेव ने 'संगीत रत्नाकर' की रचना की। यह अब तक की सभी रचनाओं का प्रतिनिधि रूप था। इस रचना में अभिनवगुप्त द्वारा नाट्यशास्त्र पर लिखे गए टीका और मिथिला के राजा नन्यादेव की 'भारत भाष्य' की भी सहायता ली गई। इसके बाद लिखी गई सभी रचनाएँ संगीत के मौलिक तथ्यों पर 'संगीत रत्नाकर' को ही पुनः प्रस्तुत करती हैं। उदाहरण के लिए संगीत के आधारभूत तत्त्व जैसे 'श्रुति', 'जाथी', पुराने राग, प्रबंध, ताल, प्रकीर्नक जिसमें आवाज, गीतकार का समावेश होता है 'संगीत रत्नाकर' नामक रचना से ही लिए गये। संगीत में 'संगीत रत्नाकर' की वही स्थिति है जो अलंकार-शास्त्र में मम्मट की 'काव्य-प्रकाश' की है। इन रचनाओं का मूल्य इसी तथ्य से इंगित हो जाता है कि इन पर बड़ी संख्या में टीके लिखे गए। 'संगीत रत्नाकर' का लेखक 'निस्सांक' नाम से रचना करता है और नई ताल, नई वीणा आदि का वर्णन करता है। कुछ समय बाद, पार्सवदेव ने संगीत प्रबंध 'संगीत समयसार' नाम से लिखा जिसमें राजा भोज, सोमेश्वर और प्रताप और उनके संगीत संबंधी कार्यों का उल्लेख है। पार्सवदेव एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ महादेवाचार्य के शिष्य थे और उच्च सांगीतिक उपाधियों जैसे 'संगीतकार' (संगीत की खान) से विभूषित थे।

1300 ई० के लगभग गोपाल नायक ऐसे प्रवीण संगीतज्ञ थे कि वे अमीर खुसरो से भी प्रतियोगिता कर सकते थे। पर ऐसा माना जा सकता है कि हिन्दुस्तानी संगीत शैली के बीच संभवतः 14वीं शताब्दी ईस्वी में दक्कन में बोये गये। बाद में, वेंकटमकिन की 'चतुर्दांडिन प्रकासिका' स्वीकारती है कि केवल गोपाल नायक ही संगीत की 'श्रुति' को समझते थे। साथ ही यह 'चतुर्दांडी' की प्रचारित रचना थी जिसमें 'गीत', 'प्रबंध', 'थया' और 'अलाप', रागों का चार प्रकार में पृथ्कीकरण वर्णित था। अपने 'संगीत रत्नाकर' नामक रचना पर लिखे टीके में स्वर माधुर्य की एक श्रृंखला में जिसे 'राग कदंब' कहा जाता है में गोपाल नायक की एक कृति का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। यहाँ यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि 'चतुर्दांडी प्रबंध' के चार रूपों में से एक का विकास 'कीर्तन' या 'कृति' रूप में हुआ। काकातिय शासकों के काल के अभिलेखों में मंदिर के संगीतकारों को 'गीत', 'वाद्य' और 'नृत्य' के विकास के लिए दान-दक्षिणा आदि किए जाने का उल्लेख है। इनमें कई शब्दों जैसे 'मृदंगवादक, 'रांध्रपूरक', 'काहालाधमाता' और 'जलजाकारंद-वादक' आदि का उल्लेख है। काकातिय शासक गणपति के काल में 'नृत्त रत्नावली' नामक प्रबंध लिखा गया। यह जय-सेनापति (1253-54 ई०) द्वारा लिखी गई तथा इसमें संगीत से संबंधित 'गीतरत्नावली' नामक अध्याय है। बाद में इस

रचना का वर्णन तंजौर के राजा तुलज द्वारा भी किया गया। काकातिय मंदिरों की शिल्पकला इस बात की साक्षी है कि लोगों को संगीत और नृत्य का प्रचुर ज्ञान था।

प्रतापरूद्र के शासन काल में पालकुरीकी सोमनाथ ने 'बासव-पुराण' और 'पंडिथाराध्याय चरित' की रचना की। उपर्युक्त रचनाएँ संगीत, कला तत्त्व, वाद्य मंत्रों के अनेक प्रचार, और रागों की सूची आदि प्रस्तुत करती है। इनमें वीणा वादन के 19 प्रकार, 108 ताल, 7 प्रकार के अलाप, 22 गमक और 108 रागों का भी वर्णन है। रागों को 'शादव' और 'औदव', 'राग' और 'नंपुसक', 'संग', 'क्रियांग' और 'उपांग' रूपों में श्रेणीबद्ध किया गया। काकातीय काल में संगीत और नृत्य निश्चित रूप से व्यापक पैमाने पर प्रचलित थे। मध्यकालीन आंध्र में अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ सिंम्ह भूपाल की 'रासरनव सुधाकर' और 'संगीत सुधाकर' थीं। वीर नारायण ने 'संगीत चिंतामणि' लिखी जिसकी पांडुलिपि त्रिवेंद्रम में उपलब्ध है। एक अन्य लेखक ने इसी रचना में 'साहित्य चिंतमाणि' नामक कृति से अधिवृद्धि की।

चतुर कल्लीनाथ जो 'संगीत रत्नाकर' के टीकाकार हैं ने 'कालानिधि' (1446-65) नामक ग्रंथ की रचना की। इसकी महत्वत्ता इस तथ्य में निहित है कि आज 'संगीत रत्नाकर' पर लिखे सभी टीकाओं में केवल इसी का प्रकाशन उपलब्ध है। अपनी रचना के आरंभिक पदों में कल्लीनाथ कर्नाटक देश का विवरण देते हैं जिसमें वे इसे कावेरी और कृष्णा नदी के बीच का क्षेत्र बताते हैं। साथ ही वह विजयनगर राज्य का भी उल्लेख करते हैं जो तुंगभद्रा नदी के किनारे स्थित था।

दसवें पद में कल्लीनाथ अपना विवरण देते हैं। उन्हें इम्मदीदेव का संरक्षण प्राप्त था जिनका काल 15वीं शताब्दी आंका गया है। कल्लीनाथ स्वयं को 'सक्षत संगीत देवता' कहते हैं पर उन्हें अन्य उपाधियों से भी जाना जाता है जैसे 'अभिनव भारताचार्य', 'राजा वाग्यकर', 'रायभयकर' और 'तोड़वमल्ल'। तंजौर के राजा तुलज कल्लीनाथ का विस्तृत वर्णन करते हैं। वहीं कल्लीनाथ की रचना में मतंग, भरत, नवदिकेश्वर, वेमा, दत्तिला आदि की रचनाओं का भी उद्धरण है। यह तथ्य संगीत और शास्त्र में विद्यमान निरंतरता का द्योतक है। इसी श्रृंखला में लक्ष्मीधर और मेवाड़ के राणा कुम्भा संगीत के जाने माने लेखक थे।

यदि 15वीं शताब्दी की बात करें तो इस काल में तालपक्कम कवियों के परिवार, संगीतज्ञ श्रद्धालु आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने भारी संख्या में तेलुगु भाषा में तिरूपति के भगवान वेंकेटश्वर पर 'संकीतर्न ' लिखे जिनमें से अधिकतर तामपत्र पर अंकित हैं जो यहाँ के मंदिर में मौजूद हैं। अन्नामाचार्य ने दशर्न और प्रेम पर गीतों की रचना की तथा विस्तृत रचनाओं से संगीत साहित्य में वृद्धि की। चिन्ना तिरूमाल ने दर्शन और प्रेम पर दो खंड-श्रृंखलाओं में 'कीर्तन' लिखा। साथ ही उन्होंने एक लघु प्रबंध भी लिखा। इन रचनाओं की महत्वत्ता इसी बात से आंकी जा सकती है कि चिन्ना तिरूमाल के दादा अन्नामाचार्य की संस्कृत रचना तेलुगु में 'संकीर्तन लक्षण' रूप में प्रस्तुत की गई। दक्षिण भारतीय संगीत रचना रूप के उत्थान के इतिहास के दृष्टिकोण से अन्नामाचार्य की यह रचना महत्त्वपूर्ण है। यह रचना रागों तथा भक्ति पर आधारित 'भजन-संप्रदाय' पर शोध के लिए तथ्यों और जानकारियों की खान मानी जाती है।

ऋषि विद्यारण्य ने संगीत पर एक प्रबंध लिखा जिसे 'संगीत-सार' कहा जाता है। इसमें सर्वप्रथम रागों को एक प्रणाली के अंतर्गत संहिताबद्ध किया गया जिसे 'मेल' या 'मेल पद्धति' कहा गया। विजयनगर के राजा देवराय द्वितीय (1423-46 ई०) का काल संगीत के क्षेत्र में सक्रिय गतिविधियों का काल था। गोपेन्द्र टिप्पा ने संगीत और साहित्य दोनों में रूचि दिखाई। उन्होंने वामन के 'काव्यालंकार सूत्र' और 'तालदीपिका' पर टीका या भाष्य लिखा। सैद्धांतिक रूप से वह 'मार्गी' और 'देसी' ताल की बात करते हैं। इस काल में

एक तमिल श्रद्धालु और संगीतकार तथा 'तिरूप्पुगाज' (बढ़ा-चढ़ा कर की गई प्रशंसा) के लेखक ने उल्लेखनीय उन्नति की। अरूणगिरि ने दक्षिण भारत में सुब्रहमण्य के सभी तीर्थ-मंदिर का विविध रूप में लयात्मक प्रतिरूप प्रस्तुत कर महिमामंडन किया।

देवराय की भांति कृष्णदेव राय का शासन भी सांगीतिक गतिविधियों के लिए उल्लेखनीय है। लक्ष्मीनारायण जिन्हें शाही संगीतकार की उपाधि मिली हुई थी और टोडरमल्ल ने 'संगीत सर्वोदय' लिखी जिसकी पांडुलिपि मद्रास में उपलब्ध है। इस काल में कर्नाटक संत जिन्हें 'दसकुट' कहा जाता था ने भी उन्नति की। पुरंदरदास जिन्हें कर्नाटक के 'दसकुट' संतों का 'पितामह' कहा जाता था का इसी काल में उत्कर्ष हुआ। पुरंदरदास को कर्नाटक संगीत का 'पितामह' कहा जाना सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्रीपदार्य जो पुरंदरदास से पहले के कवि थे अपने एक गीत में सालुव नरसिम्हा का ज़िक्र करते हैं। उनके कन्नड़ में असंख्य गीतों में 'भ्रमरगीत', 'वेणुगीत' और भागवत पर आधारित 'गोपीगीत' महत्त्वपूर्ण हैं। भागवत के पूरे के पूरे दसवें भाग को उन्होंने कन्नड़ गीतों में बदल दिया। मदवा समूह (Madwa School) के व्यासराय और द्वैत साहित्य भी प्रारंभिक विजयनगर काल के थे जो बाद में कृष्णदेव राय के काल तक जारी रहे। व्यासराय ने बड़ी संख्या में 'कीर्तन' की रचना की जिन्हें 'वृत्तनामा' कहा गया। ये गीतों और पद्यात्मक रचनाओं का वैकल्पिक रूप थे। वादीराज 15वीं शताब्दी के एक अन्य 'कीर्तनकार' थे। परन्तु संपूर्ण संगीत परंपरा प्रतिभावान पुरंदरदास (1480-1564) की कृतियों के रूप में स्थापित हुई जिन्होंने विभिन्न विधाओं में 4,75,000 रचनाएं लिखी। एक बैंकर व्यापारी से श्रीनिवास नायक (पुरंदरदास) पंडीरीपुर या पंढारपुर के विट्ठल के बड़े भक्त बन गए और कृष्णदेव के काल में विजयनगर की राजधानी को पलायन कर गए। अपनी सरल भाषा और भक्ति प्रदर्शन द्वारा तथा उच्च व्यवहार कुशलता और अपनी सत्यता के लिए लोकप्रिय पुरंदरदास कर्नाटिक और हिन्दुस्तानी संगीत शैली के सेतु थे जिन्होंने दोनों शैलियों को एक दूसरे से जोड़ा। संभवत: यह वह काल था जब दक्षिण भारतीय संगीत को एक विशेष नाम मिला जिसे कर्नाटक (कर्नाटका) या कर्नाटिक कहा गया।

पुरंदरदास ने 'गीता' की रचना की तथा साथ ही विस्तृत और विद्वतापूर्ण 'सुतादीस' नामक ग्रंथ लिखा। उन्होंने अनेक प्रकार के गीतों की रचना की तथा 'मालावगौल' संगीत की मौलिक स्वरध्वनि (स्वरग्राम, ैबंसम) प्रस्तुत की। उन्होंने संगीत के प्रारंभिक अभ्यर्थियों के लिए 'मालावगालै ' की स्वर ध्वनि के आधार पर 'गीतम' की रचना की।

1550 ई० में कोंडिविडु के रामामात्य जो रामराय के समकालीन थे ने 'स्वरमेलकलानिधि' नामक संगीत प्रबंध की रचना की। रामामात्य स्वयं को एक गीतकार और प्रसिद्ध संगीतकार कल्लापादेसिका का पोता बतलाते हैं। रामामात्य ने संगीत से संबंधित बीस प्रकार के 'मेला' का वर्णन जिसकी शुरूआत 'मुखरी' से की और जिसमें चौंसठ 'जन्य-रागों' (ऐसे राग जो मौलिक रागों से विकसित किए गए थे) शामिल थे। संगीत से संबंधित एक अन्य रचना 'अच्छयुतराज मेल वीणा' है जो अच्छयुतार्य द्वारा लिखी गई है। संगीत में स्वरों का तालमेल बिठाना और 'श्रुति' को यथोचित रूप में समाहित कर उसे 'स्वयंबू स्वर' के रूप में स्थापित करने का श्रेय अच्छयुतार्य को जाता है।

ऐसा माना जाता है कि संभवत: इसी काल में 'वीणा' की तारों को इस प्रकार बांधा गया कि इससे सभी रागों को सरलता से बजाया जा सकता था। इसी काल की पेद्दन्ना की 'मनुचरित' और 'वासुचरित' भी 'वीणा' का उल्लेख करती हैं।

नायकों के नियंत्रण में तंजौर दरबार ने भी विजयनगर की ही भांति संगीत और नृत्य को संरक्षण दिया। रघुनाथ नायक स्वयं एक संगीतकार थे और 'वीणा' बजाने में प्रवीण थे। उसकी सांगीतिक कुशलता इसी बात से आंकी जा सकती है कि उन्होंने अपने मंत्री गोविन्द दीक्षित के साथ 'संगीत सुधा' नामक संगीत ग्रंथ की रचना की। इसी काल में नये राग जैसे 'जयंतसेन' तथा नये ताल जैसे 'रामानंद' का उद्‌भव हुआ। गोविन्द दीक्षित 'संगीत-शास्त्र-संक्षेप' या 'संग्रह-चूड़ामणि' का भी उल्लेख करते हैं। यहाँ यह चर्चा करना महत्त्वपूर्ण है कि गोविन्द दीक्षित की यह रचना ऋषि विद्यारण्य की 'संगीत शास्त्र' और नृत्य-नाटिका 'यक्षगान' तथा इसकी संगीत शैली का उल्लेख करती है।

गोविन्द दीक्षित के पुत्र वेंकटमकिन ने 'चतुरदांडीप्रकासिता' नामक प्रबंध लिखा और इस प्रकार 72 'मेलकर्त' नामक प्रणाली (Scheme) की शुरूआत की। 'रागों' का इस प्रकार का वर्गीकरण और श्रेष्ठियों में विभाजन उत्तर भारत के 'राग-रागिनी-पुत्र-पुत्री' प्रणाली से अलग है। ये राग बारह 'स्वर-साथ' रूप में निर्मित है। इसमें 36 'मेल' को 'शुद्ध माध्यम' के रूप में जाना जाता है तथा अन्य 36 का विकास 'माध्यम' परिवर्तित रूप 'प्रति माध्यम' से हुआ है। संगीत की यह 72 रूप प्रणाली केवल एक लिखित विचार ही था और सभी 'मेल' इस काल में प्रचलित नहीं थे। अपनी पुस्तक में वेंटकमकिन केवल 19 'मेल' का ही वर्णन करते हैं और 'रागों' के वर्णन में वह इस पद्धति का प्रयोग नहीं करते। उनकी रचना में 'न्यास', 'अंश' आदि टनप्पा शैली में पचास रागों का ज़िक्र है। टनप्पा और होनप्पा कन्नड़ नाम प्रतीत होते हैं और गोविन्द दीक्षित और वेंकटमकिन स्वयं भी कन्नाडीगस थे। मरट्‌ट तंजौर के राजा तुलज अपनी रचना 'संगीत सारमृत' में 'चतुरदांडी' पर और प्रकाश डालते हैं। 'चतुरदांडी' में 'चार तत्त्व' हैं जो 'गीत', 'प्रबंध', 'थया' और 'अलाप' नाम से जाने जाते हैं। नये 'राग' 'अलाप', 'कृति' और 'कीर्तन' शैली में गाये जाते हैं। पर उस काल में वे चारो शैलियों में गाये जाते थे। 1650 ई० के बाद कई निश्चित गीत, 'लोकक्षय गीत' जिनमें मौलिक और विकसित 'राग' थे की रचना की गई।

इस काल तक तंजौर का एक प्रसिद्ध संगीत पीठ के रूप में उदय हो चुका था। कई विशिष्ट संगीतकार और गीतकार तंजौर आकर बसने लगे। इन सबमें सबसे प्रसिद्ध मुव्वापुरी के क्षेत्ररज्न थे जिन्होंने तेलुगु में 'पदम' की रचना की। ये रचनाएँ शास्त्रीय तेलुगु में लिखी गईं जिसमें 'राग भाव' को पूर्ण रूप में प्रस्तुत किया गया। हर 'पदम' प्रेम के भाव, ईश्वर से श्रृंगाररस, तथा मुव्वापुरी के देवता गोपाल के प्रति भक्ति को व्यक्त करता है। भद्रछाल के श्री रामदास और कृष्ण लील तरंगिणी और मेलात्तुर भागवत मेला के रचयिता भी इसी काल के थे।

तंजौर जिले के तिरुवरूर का संगीत संसार में वही स्थान है जो बेरूत शहर का पाश्चात्य संगीत में है। यह कर्नाटक संगीत के तीन विशिष्ट विभुतियों थ्यागराज (1767-1847), मुथ्थुस्वामी दीक्षितार (1775-1835) और श्याम शास्त्री (1762-1827) का जन्म स्थान है। ऐसा माना जाता है कि थ्यागराज ने लगभग 24,000 गीतों की रचना की। परन्तु अब उनकी रचनाओं में से केवल 705 गीत ही उपलब्ध हैं। संगीत संसार में उनके योगदान का आंकलन राग मीडिया के समग्र रूप से लगाया जा सकता है जो उन्होंने अन्य दो विभुतियों के साथ-साथ उत्तराधिकार में प्राप्त किया।

दीक्षितार स्वयं को 'वेनिक-गायक' (एक गायक और वीणा के प्रवीण वादक) और 'पंडित तारा' नाम से संबोधित करते हैं। 'वीणा' ने उनकी शैली को विशिष्टता प्रदान की तथा उनके ज्ञान उत्साह ने उन्हें कई व्यक्तिगत 'रागों' तथा 'रागों' के विज्ञान पर विस्तृत प्रस्तुतीकरण के लिए सामर्थ्य दिया। श्याम शास्त्री की

'सरमन' वेंकटसुब्रहमण्य थी। उनकी 'मुद्रा' 'श्याम-कृष्ण' थी। उनके अन्य दो समकालिक कवियों की अपेक्षा जिनकी रचनाएँ संदिग्ध थीं, श्याम शास्त्री ने 'स्वरजाति', 'मंजी' और 'आनंदभैरवी' में उत्कृष्टता प्राप्त की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तीनों कवियों में थ्यागराज संगीत में 'भाव', दिक्षितार 'राग' और श्याम शास्त्री 'ताल' के लिए प्रसिद्ध हैं।

3.2.3 उपसंहार

शास्त्रीय कर्नाटक संगीत को दैनिक अभ्यास द्वारा संरक्षित किया गया तथा इसे गुरु-शिष्य परंपरा के अंतर्गत पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांरित किया गया। धीरे-धीरे गुरुकुल-वास का प्रचलन समय और भक्ति दोनों रूपों में लुप्त होता चला गया। दक्षिण भारत में भक्ति या श्रद्धा संगीत कला से मौलिक और अभिन्न रूप से संबद्ध है। इसकी पुष्टि इसी तथ्य से हो जाती है कि संगीत के आंरभिक काल जैसे 'तेवरम' और 'दिव्य प्रबंधम' के प्रसिद्ध संगीतकार भक्तिमार्गी संत और गुरु थे।

व्यक्तिगत ईश्वर की भक्ति में संगीत एक साधना रूप सिद्ध हुआ है। गीतों के शब्दों को बहुत अहमियत दिए बिना शुद्ध संगीत, वाद्य-यंत्र और स्वर के विकास को 'नादयोग' कहा जाता है। यदि हम संगीत कला के इतिहास का आवलोकन करें तो यह गंगा-यमुना सांस्कृतिक धाराओं को प्रकट करता है जिसमें कई स्थानीय रूप भी शामिल हो गए हैं परन्तु ये स्थानीय रूप इस प्रकार से मिश्रित हुए हैं कि शास्त्रीय संगीत परंपरा की मौलिकता अभी भी बनी हुई हौ इस सांगीतिक मिश्रण की प्रक्रिया में 'देसी' ने सांगीतिक विषय-वस्तु प्रदान की 'मार्ग' शैली ने इसे परिष्कृत किया और इसे एक स्तर प्रदान किया। इस प्रकार लोकप्रिय और शास्त्रीय संगीत परंपरा हमारी संस्कृति की दो धाराओं के रूप में विकसित और प्रतिष्ठित हुई।

अभ्यास-2

(अ) निम्नलिखित के लिए 'सही' या 'गलत' बताईये:

(i) तेवरम को तमिल का वेद भी माना जाता है।

(ii) मनोसल्लास राजा सोमेश्वर तृतीय की रचना है।

(iii) विद्यारण्य ने संगीत-सार नामक रचना लिखी।

(iv) नदयोग कलासिकल और पॉप संगीत का मिश्रण है।

(ब) रिक्त स्थानों की पूर्ति करो:

(i) ..... ने अपना संगीत भगवान शिव को अर्पित किया।

(ii) तेवरम पवित्र तमिल स्तोत्र है .....

(iii) ..... के पल्लव अभिलेख संगीत पर महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं।

(iv) ..... को 24 हज़ार रचनाओं के लेखन का श्रेय दिया जाता है।

(स) लघु प्रश्न:

1. दक्षिण भारतीय संगीत परंपरा के 'प्रबंध' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

2. चतुरदंडप्रकाशित में वर्णित विभिन्न रागों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

(ड) दीर्घ प्रश्न:

1. दक्षिण भारत के विभिन्न संगीत परंपराओं की व्याख्या करो।

2. तंजौर दरबारर के नायकों के संरक्षण में विकसित संगीत और नृत्य की विवेचना कीजिए।

संदर्भ सूची

1. एस० रंगा रामानुज आयंगर, 'हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियन (कर्नाटिक), म्यूज़िक', मद्रास, 1972
2. पी० साम्बा मूर्ति, 'साउथ इंडियन म्यूज़िक ', 1968
3. टी०वी० कुप्पुस्वामी, 'कर्नाटिक म्यूज़िक एंड द तमिल्स', 1992
4. एस० सीता, 'तंजारै ऐज़ ऐ सीट ऑफ म्यूज़िक ड्यूरिंग 17वीं, 18वीं एंड 19वीं सेंचुरीज़, 1981
5. वी० राघवन, 'कलक्टड राइटिंग्स ऑन इंडियन म्यूज़िक', 2007

3.3 भारतीय शास्त्रीय नृत्य

3.3.1 भूमिका

मनुष्य के सभी कलात्मक प्रयास ऐसे प्रतीक हैं जिनके माध्यम से वे उन गहरी और चिरस्थायी भावनाओं और संवेदनाओं को संप्रेषित करते हैं जो सामान्य भाषिक अभिव्यक्ति से अधिक ऊपर हैं। कला मनुष्य के विशुद्ध अस्तित्त्व की सर्वाधिक मूलभूत गतिविधियों में से एक है जैसे कि धर्म। यह मनुष्यों के विचारों के आदान-प्रदान की मूलभूत आवश्यकता है। अपने विचारों के आदान-प्रदान के साधनों से वंचित व्यक्ति अंततः या तो अपनी समस्त संवेदनाओं को खो देता है या फिर वह पाशविक स्तर तक पतित हो जाता है, यहाँ तक कि मर जाता है। यह तथ्य दर्शाता है कि कला एक गहनतम और दीर्घकालिक स्तर का संवादन है।

सच्ची कला वह अविनाशी गुण रखती है जो जीवन, परिस्थितियों, रुझानों और इस गतिशील विश्व की परिवर्तनशील परिस्थितियों के बाद भी जीवित रहती है। इससे भी बढ़कर समय के अवरोधों को पार करते हुए यह अत्यधिक गहरे और भावनात्मक रूप से लोगों को प्रभावित करती है। यह समस्त कलाओं और विशेष रूप से नृत्य कला के लिए सत्य है जो पूर्ण रूप से मानव शरीर पर निर्भर होने के कारण अत्यंत लचीली है। भारत का सांस्कृतिक इतिहास अत्यतं प्राचीन है - कुछ ऐसा जिसे कुछ बिंदु मात्र से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। कोई भी यह अनुमान लगा सकता है कि आज अपने अस्तित्त्व में यह संभवतः सर्वाधिक प्राचीन संस्कृतियों में से एक है। जिस प्रकार हीरे के विविध रूप होते हैं उसी प्रकार यह संस्कृति कई गौरवशाली तत्त्वों से मिलकर बनी है। सशक्त और समृद्ध रंगमंचीय परंपरा इनमें से एक है। रंगमंचीय से हमारा तात्पर्य उन सभी कला रूपों से है जो उससे संबंध रखता है जिसे हम पद्र शर्न कारी कलाओं के नाम से अभिहित करते हैं जैसे नाटक, संगीत और नृत्य। ये तीनों भारतीय संदर्भ में अपरिवर्तनीय रूप से एक साथ गुंथे हुए हैं। नाटक और नृत्य एक ही सिक्के के दो पहलुओं की भांति दिखाई पड़ते हैं जबकि संगीत बंधनकारी शक्ति का कार्य करता है। भारतीय संदर्भ में यदि बात करें तो नाटक, नृत्य (नृत्त) और संगीत (गीत और वाद्य दोनों) से रहित नहीं हो सकता। इन तीनों कलाओं ने अत्यंत प्राचीन काल से हमारे देश के सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ईसा पूर्व 5वीं शती के प्रारंभिक काल में ही समाज के सुसंस्कृत अभिजात वर्ग ने इस देश में समृद्ध हो रही विविध रंगमंचीय परंपराओं को व्यवस्थित करने की आवश्यकता अनुभव की जिसे उस समय जंबूद्वीप के नाम से जाना जाता था।

यह अत्यंत स्वाभाविक था कि इस देश का गठन करने वाला विशाल भौगोलिक विस्तार विविध आर्य कबीलों से भरपूर था जिनकी अपनी-अपनी लोक संस्कृति थी। पर इसी काल में इस देश के मूल निवासियों की भी अपनी अत्यंत सुस्थापित संस्कृतियाँ थीं। इस प्रकार इन विविध संस्कृतियों के भारत के विभिन्न भागों

में परस्पर मिलन ने व्यक्तिपरक सांस्कृतिक शैलियों को जन्म दिया। परंतु एक तथ्य जो निश्चित तौर पर उभर कर आता है वह यह है कि संगीत, नृत्य, और नाटक मानवीय जीवन के अभिन्न भाग थे। देश अत्यंत स्थिरतापूर्वक एक सहचारी सामाजिक ताने-बाने को प्राप्त कर रहा था, यह सहचारिता धार्मिक व दार्शनिक विचारों, पारिवारिक मानकों, आर्थिक व्यवहार और उस अपरिहार्य तत्त्व मनोरंजन से युक्त थी जो सामान्य मानव जीवन के सुख के लिए अनिवार्य थी। अपने विकास क्रम के अत्यंत आरंभिक चरण के समाज ने जाति-व्यवस्था को जन्म दिया जिसने इसके सदस्यों का ध्रुवीकरण किया। समाज के तथाकथित निम्न वर्ग के अपने मनोरंजन के साधन थे वहीं उच्चतर वर्ग के अपने साधन थे जो निस्संदेह परिष्कृत और सुनियोजित थे। इस परिष्कृत तत्त्व को नियमित करने के लिए एक विशाल प्रयास आरंभ हुआ जो अद्वितीय दूरदर्शिता और प्रभावशाली ग्रंथ रूप में परिणत हुआ। नाट्यशास्त्र (नाट्यविद्या का विज्ञान) जिसमें प्रदर्शनकारी कलाएँ सम्मिलित हैं में नियमों को अत्यधिक सुनिश्चित और स्पष्ट प्रकार से दिया गया है जो नाटक, नृत्य, और संगीत की त्रिपदी का निर्देशन करते हैं। बाद में हुए विकास से प्रकट होता है कि किसी भी प्रदर्शनकारी कला की प्रामाणिकता नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नियमों के आधार पर होती है। नाट्यशास्त्र पौराणिक ऋषि भरत की रचना है और प्रत्येक युग के विद्वान एवं अनुष्ठाता इसके प्रति निष्ठा की सौंगध लेते हैं। जहाँ तक नाट्य के विभिन्न तत्त्वों की बात है, भरत कहते हैं, "मैं पांचवे वेद की रचना करूंगा जो नाट्य पर आधारित होगा तथा जिसमें इतिहास भी सम्मिलित होगा। इसमें सम्पूर्ण शास्त्र भी शामिल होंगे और यह समस्त शिल्पों की समीक्षा प्रदान करेगा।"

वे फिर कहते हैं, "ऐसी कोई बुद्धिमत्तापूर्ण सूक्ति नहीं है, कोई शिक्षा नहीं, कोई कला और शिल्प नहीं, कोई क्रिया नहीं, जो नाट्य में प्राप्त नहीं होती।"

इस प्रकार नाट्यशास्त्र न तो केवल नाट्य पर लिखा गया प्रबंध है जैसा कुछ लोगों का मत है और न ही यह नृत्य पर प्रबंध है जैसा कुछ अन्य लोगों का विश्वास है। इसके विपरीत नृत्य के लिए निर्देशित नियम भरत की रचना से सावधानीपूवर्क निकालने पड़ते हैं जो साधारणत: नाट्य से संबंधित हैं। एक बार चयनित नियमों का समूह निर्धारित हो जाता है तो नृत्य एक स्वतंत्र कला के रूप में उभरती है परंतु इसके बावजूद यह नाट्य का अभिन्न अंग बनी रहती है।

अपने नाट्य की प्रकृति के बारे में भरत उल्लेख करते हैं - "जब सुखों और दुखों से संबंधित मानवीय प्रकृति को प्रस्तुति के अनेक माध्यम जैसे आंगिक, सात्त्विक आदि द्वारा व्यक्त किया जाता है वह नाट्य कहलाता है"।

नाट्यशास्त्र के निर्देशों के विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा हम उन तकनीकों की ओर मुड़ते हैं जिन्हें यह ग्रंथ चित्रित करता है। उपयुर्क्त वणर्न में भरत हमें 'अभिनय' के तत्त्व और इसके दो रूपों 'आंगिक' और 'सात्त्विक' का परिचय देते हैं। यह उल्लेखनीय है कि इससे पहले मनुष्य कोई उपलब्धि हासिल करे उसके लिए सांस लेना तथा सक्रियता अत्यंत आवश्यक है। यही गतिशीलता जीवन का स्रोत है और सत्य नृत्य सर्वोच्च गतिशीलता है जो आदिम जीवन में अत्यंत अनिवार्य थी। अत: नृत्य को समझने और सराहने में असफलता न केवल भौतिक जीवन के अनुपम प्रतीक को बल्कि अध्यात्मिक जीवन के सर्वोच्च प्रतीक को भी समझने की असफलता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न अनिवार्य हो जाता है कि नृत्य क्या है और इसका क्या महत्व है?

नृत्य अपने व्यापक अर्थ में सामान्य लय के आकर्षण के प्रति वैयक्तीकृत मानवीय प्रतिक्रिया है जो न केवल मानवीय जीवन वरन् समस्त ब्रह्माण्ड को लक्ष्य करती है। नृत्य उसी प्रकार की अभिरचना है जिस प्रकार स्थापत्यकला, चित्रकला और मूर्तिकला इत्यादि हैं और त्रिआयामी लय का प्रयोग करती हैं। इसके अतिरिक्त संगीत के समान नृत्य समयबद्ध लय का विन्यास है। इस प्रकार नृत्य वह एकमात्र कला है जिसे काल और आयामों की कला कहा जा सकता है और जो दृश्य और श्रव्य दोनों ही प्रभाव क्षेत्रों में लय का नियोजन करती है।

भारत में नृत्य कला के प्राचीनतम प्रमाण नवपाषाणोत्तर कालीन सिंधु घाटी सभ्यता से प्राप्त होते हैं जो 'अपनी संपूर्ण परिपक्वता या विकसित अवस्था में तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के आरंभ में अस्तित्ववान् थी'। इस सभ्यता की दो अत्यंत सुंदर लघु मूर्तियाँ मौजूद हैं जिनमें एक हड़प्पा से प्राप्त पुरुष नर्तक का धड़ और दूसरी मोहेनजोदड़ो से प्राप्त नृत्यरत कन्या की ताम्र मूर्तिका है। ये आकृतियाँ न केवल मूर्तिकला की कलात्मक रचनात्मकता के अत्यंत उन्नत चरण के बल्कि इस तथ्य के साक्ष्य के रूप में भी उपस्थित हैं कि कला के रूप में नृत्य ने हडप्पाई लोगों के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी अवश्य निभाई। साथ ही यह इस ओर भी संकेत करती है कि नृत्य कला विकास की उन्नत अवस्था में थी। ये लघुमूर्तियाँ मनुष्य की अंतर्तम प्रकृति और इस संसार की शक्तियों के गहन संबंध को संप्रेषित करती प्रतीत होती हैं। इस क्षेत्र में हुए उत्खननों से पर्याप्त संख्या में लघुमूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं किंतु कोई भी इस श्रेणी की प्रतीत नहीं होती जिसके अंतर्गत एक अत्यंत सुनिश्चित शारीरिक अभिवृत्ति का संप्रेषण किया जा रहा हो।

ऐतिहासिक रूप से प्रदर्शनकारी कलाओं का उत्थान और लोकप्रियता एक युग से दूसरे युग में विचलनशील रही है। एक व्यवस्थित तहकीकात से नियमों के एक अत्यंत सुनिश्चित और यथातथ्य संग्रह का आविर्भाव होता है जो इन प्रदर्शनकारी कलाओं विशेष रूप से संगीत, नृत्य और नाट्य का दिशा-निर्देशन करता है। एक अन्य तथ्य जो उभरता है वह यह है कि किसी भी प्रदर्शनकारी कला की प्रामाणिकता नियमों के इस विशिष्ट संग्रह के निर्देशानुसार परीक्षित होती है। इसके अलावा प्रत्येक युग के विद्वानों ने सर्वसम्मति से नियमों के इस संग्रह के लिए ऋषि भरतमुनि की रचना नाट्यशास्त्र को श्रेय दिया है।

3.3.2 नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र (नाट्यविद्या का विज्ञान) संस्कृत साहित्य का अद्वितीय रचना है। इसके शीर्षक के अनुसार यह वृहत ग्रंथ रंगमंच से संबंधित होना चाहिए। किंतु वस्तुतः यह एक विश्वकोष है जो उन कलाओं और उनसे संबंधित विषयों का वणर्न करता है जो रंगशाला और सफलमंचीय प्रस्तुति के साथ जुड़े हुए हैं। न केवल नाट्यकला बल्कि प्राचीन भारतीय कला चिंतन के अनुसार समस्त कलाओं जिन्हें उचित रूप में हिंदू विचार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है का उद्देश्य रसास्वाद (सौंदर्यपरक अनुभूति) के माध्यम से इस (सौंदर्यपरक विषय) की उत्पत्ति है।

उनके निर्देशों में मुख्यतः निम्न शामिल हैं -

(1)	नाटककार	-	उनके नाटक के लेखन में प्रयुक्त भाषा, विभिन्न प्रकार के नाटकों की विशेषताएँ और उनकी संरचना का विश्लेषण।
(2)	मंच प्रबंधक और निर्देशक	-	उनकी योग्यताएँ, वे प्रथाएँ जिनका वे अनुकरण करते हैं, उनके कर्तव्य इत्यादि।

(3)	अभिनेता और अभिनेत्री	–	उनकी योग्यताएँ, शारीरिक लक्षण, दक्षता, चरित्र-चित्रण, पात्र चयन।
(4)	पूजा और पूर्वरंग	–	हिंदू मान्यता के अनुसार मंचीय प्रस्तुति के साथ संबद्ध समस्त प्रथागत पहलू।
(5)	सभागार	–	विशिष्टताएँ, शुभारंभ के लिए आयोजित किए जाने वाले धार्मिक समारोह और निर्माणकार्य।
(6)	नेपथ्यशाला प्रबंधक	–	विभिन्न पात्रों की वेशभूषा और शरीर सज्जा।
(7)	संगीत	–	मंचीय प्रस्तुति के लिए सांगीतिक संगत जिसमें गीतों के सामान्य गायन में संगीत के सिद्धांत, विभिन्न प्रकार के वाद्य यंत्रों का वादन, ताल आदि सम्मिलित हैं।
(8)	नृत्य	–	पुरुषों और महिलाओं के लिए समुचित नृत्य भंगिमाओं और उनका वर्गीकरण।

नाट्य की तकनीक जो नाट्यशास्त्र में पाई जाती है और नृत्य पर भी साधारणत: लागू होती है निम्नलिखित तीन अवयवों का समावेश है।

(1) धर्मी (प्रस्तुति की विधाएँ)

धर्मी दो प्रकार के होते हैं - 'लोकधर्मी' और 'नाटय् धर्मी' । इस कला के विकास के इतिहास में बहुत पहले ही भारतीय नाटककारों ने अनुभव किया कि नाट्य (नृत्य सहित) की सही प्रस्तुति के लिए सटीक स्थान और यथार्थवाद की मात्रा अत्यंत विशुद्ध होनी चाहिए। 'लोकधर्मी' प्रस्तुति की एक यथार्थवादी विधा है जहाँ लोगों के स्वाभाविक व्यवहार को मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। वहीं 'नाट्यधर्मी' प्रस्तुति अत्यंत शैलीबद्ध विधा है।

'लोकधर्मी' विधा अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है जबकि वहीं 'नाट्यधर्मी' निश्चित रूप से पूर्वधारित और पूर्वनियोजित विधा है।

(2) वृत्ति (रचना की शैलियाँ)

भरत चार वृत्तियों की सूची प्रस्तुत करते हैं - भारती (शाब्दिक), सात्त्वती (उदात्त), आरभटी (सोत्साह) और कैशिकी (उदारतायुक्त)

(3) अभिनय (अभिनय के प्रकार)

इसे प्रतिनिधित्व के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। भरत चार अभिनयों को सूचीबद्ध करते हैं - 'सात्त्विक' (आत्मिक रूप से किया जाने वाला), 'आंगिक' (शारीरिक रूप से किया जाने वाला), 'आहार्य' (शरीर सज्जा, वेशभूषा आदि) और 'वाचिक' (उच्चारित शब्द, गीत आदि)। इस शब्द की व्युत्पत्ति अत्यंत रुचिकर और रहस्योद्घाटक है। एक परिभाषिक शब्द के रूप में जैसा आज इसे ग्रहण किया जाता है, नृत्य के अध्ययन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

अभि = समीप, किसी दिशा की ओर

नय (नी) = आचरण, निर्देश

अभिनय = मंच पर प्रतिनिधित्व के लिए आचरण, स्वांग, परकरण।

इस प्रकार अभिनय शब्द 'समीप ले जाने वाली क्रिया' के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। यह संचालन की क्रिया मंच से दर्शक की ओर है और इसकी स्वांग (परकरण) की प्रकृति है। वह विषय-वस्तु जिसका संचालन होगा, वह विचार, विषय अथवा मंचीय प्रस्तुति की आत्मा होगी। अत: यह स्वाभाविक है कि मुख्य विषय-वस्तु या मंच पर प्रस्तुत विषय से दर्शक को अवगत कराने के विभिन्न प्रकार होने चाहिए जैसे शारीरिक संचालन (आंगिक), बोले गए या उच्चारित शब्द (वाचिक) आदि। याद रखने योग्य सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'निकट ले जाने वाले' आचरण की इस विशिष्ट क्रिया का प्रदर्शन प्रदर्शक द्वारा किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि अभिनय, जगत की अनुभूति के संप्रेषण का प्राथमिक साधन या माध्यम है। अत: नाट्य एवं नृत्य मंचीय प्रस्तुतियाँ हैं जहाँ संसार के अनुभवों को अभिनय माध्यम से संप्रेषित किया जाता है। इस प्रकार अभिनय के बिना कोई नृत्य अथवा नाट्य संभव नहीं हो सकता। ऐसी व्याख्या के उपरांत यहाँ नृत्य को समझ लेना प्रासंगिक होगा।

नृत्य

नृत्य अपने व्यापक अर्थ में सामान्य छंद गति के अनुरोध की वैयक्तिकृत मानवीय प्रतिक्रिया है जो न केवल मानव-जीवन वरन ब्रह्माण्ड को चिन्हित करती है यह छंद-गति ही है जो ब्रह्माण्ड का नियमन करती है और मानव जीवन की सर्वाधिक मूलभूत अपेक्षा है। यही छंद-गति है जिसे भारतीय कला दर्शन में 'लय' कहा गया है और जो जीवन की समस्त भौतिक व आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों को अंतत: प्रभावित करती है और नृत्य लय पर आधारित एवं उससे गुँथी हुई होने पर मानवों के लिए विस्मयजनक महत्व ग्रहण कर लेती है तथा आध्यात्मिक गुणों को भी धारण करती है।

संपर्क मनुष्य की मौलिक आवश्यकता है। कला आपसी संपर्क के गहन एवं अत्यंत चिरकालिक स्तर का माध्यम है। समय की सीमा को लांघते हुए यह लोगों को मानसिक रूप से उद्वेलित करती है। यह सभी कलाओं के लिए सत्य है परन्तु नृत्य पर यह विशेष रूप से लागू होती है। इसका कारण यह है कि यह पूर्णत: मानव शरीर पर निर्भर है और इस प्रकार अत्यंत लचीली कला है। इसके अतिरिक्त यह सबसे पुरानी कला है। इस तरह नृत्य की कला के दो विशिष्ट अवयव हैं, पहला, रूपविधान-मूर्त और दूसरा, अंतर्वस्तु-अमूर्त।

नृत्य

रूपविधान:मूर्त	अंतर्वस्तु: अमूर्त
(Tangible)	(Intangible)

नृत्य की भारतीय अवधारणा के अनुसार इनमें से कोई भी अवयव स्वयं नृत्य की संपूर्णता तक नहीं पहुँच सकता।

सदियों से नृत्य की अंतर्वस्तु धर्म और विविध दार्शनिक विचार रहे हैं। लोगों के ये आध्यात्मिक एवं बौद्धिक विश्वास मनुष्य को सर्वोच्च सत्ता के समीप एवं अंतत: उस सर्वोच्च सत्ता (ईश्वर) के साथ विलीन होकर मोक्ष प्राप्ति की ओर ले जाने को प्रत्यनशील रहे हैं। ऐसे लोग जो साधारण समझ के लोग थे तथा दर्शन की पुष्ट विचारधाराओं द्वारा उपलब्ध कराई गई उच्चतर आधिभौतिकता को समझ नहीं सकते थे, हिंदूवाद ने 'भक्ति' (समर्पण) के माध्यम से उन्हें ईश्वर और मोक्ष के समीप ले जाने का कार्य किया।

नृत्य का रूप एक अधिक मूर्ततर अवधारणा है। आज जिस प्रकार के नृत्य के रूप है उनका पर्यवेक्षण और अध्ययन काफी आसान है। सदियों से चली आ रही नृत्य परंपरा को सरलता से मूर्तिकला, चित्रकला और साहित्य अभिव्यक्तियों द्वारा भी जाना जा सकता है।

अभ्यासकर्ता और दर्शक को मोक्ष की ओर ले जाने के अतिरिक्त सभी सच्ची भारतीय कलाओं (अधिकतर शास्त्रीय) का अन्य महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है - यह सर्वोच्च सौंदर्यपरक स्वानुभूति 'रस' का सृजन है।

भारत में संभावित शास्त्रीयतावाद सुनिश्चित नियमों के समूह द्वारा शासित व सुपरिभाषित रूपविधान की ओर समेकित रंगमंचीय परंपरा के क्रमिक विकास पर आधारित था। यह 'नाट्यशास्त्र' में संहिताबद्ध किए गए नियमों के समूह के रूप में उभरा जो नाट्यविधान के एकमात्र विद्यमान ग्रंथ के रूप में हमें उपलब्ध है। एक ग्रंथ की अपेक्षा 'नाट्यशास्त्र' को कलाकार का संविधान कहा जाना चाहिए।

यदि कोई आज के शास्त्रीय नृत्य-परिदृश्य के इर्दगिर्द देखता है तो इस तथ्य से अवगत होता है कि लगभग सभी नृत्यशैलियाँ नाट्यशास्त्र से संबद्ध हैं। हालांकि एकल रूप में वे किसी क्षेत्रीय ग्रंथ अथवा 'अभिनय दर्पण' या 'भरतार्णव' जैसे अधिक संक्षिप्त ग्रंथ जिनका श्रेय नंदिकेश्वर को है, का अनुसरण करते हैं। यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता है कि 'नृत्य' जैसा हम आज इसे समझते हैं, भरत द्वारा प्रयुक्त नहीं हुआ। 'नाट्यशास्त्र' में इस विशब्द का उल्लेख नहीं मिलता। 'नाट्शास्त्र' का संपूर्ण लक्ष्य 'रस' (सौंदर्यपरक अनुभव अथवा आनंद) की रचना है और यह दो 'धर्मियों , चार 'वृत्तियों' एवं चार 'अभिनयों' के अभ्यास द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित करता है। यह उसका भी वर्णन करता है जिसे छंदशास्त्र अथवा पिंगल, तालों और अन्य तत्संबंधित विषयों से युक्त संगीत के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

जिस प्रकार भरत के पश्चात् भावयुक्त नृत्यु के वर्णन हेतु तथा विशब्द 'नृत्य' अभ्यासकर्ताओं एवं विद्वानों द्वारा अंगीकृत किया गया, उसी प्रकार 'नृत्य' के वर्गीकरण में एक द्विभाजन का आविर्भाव हुआ - 'तांडव' एवं 'लास्य'। भरत 'तांडव' विशब्द का पर्याप्त प्रयोग करते हैं। ऐसा दृष्टिगोचर है कि भरत के मतानुसार कोई भी नृत्य ताडंव श्रेणी में रखा जा सकता है। परंतु विशब्द 'लास्य' एक बार फिर भरत द्वारा प्रयुक्त नहीं किया गया है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द 'सुकुमार' है जिसका अर्थ सौम्य या शालीन नृत्य है। आज हम पुरुष-अनुकूलित नृत्य के लिए 'ताडंव' और स्त्री - अनुकूलित नृत्य के लिए 'लास्य' विशब्दों का अत्यंत मुक्त भाव से प्रयोग करते हैं। यह व्याख्या हमें निम्नलिखित वर्गीकरण की ओर ले जाती है -

3.3.4 नृत्य के प्रकार

(अ) नृत्य जो विशुद्ध नर्तन है नाट्यशास्त्र में यह या तो 'ताडंव' के रूप में अथवा 'आंगिक अभिनय' की सामान्य श्रेणी में चर्चित है और शरीर के विभिन्न भागों की विविध गतिविधियों से संबद्ध है।

(आ) नृत्य जिसका कोई वर्णन नाट्यशास्त्र में प्राप्त नहीं है इसका आर्विभाव उत्तरवर्ती शताब्दियों में हुआ। 'नाट्यशास्त्र' पर आधारित अन्य ग्रंथों जैसे 'अभिनव भारती', 'संगीतरत्नाकर', 'भाव प्रकाश आदि का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि इस प्रकार का नृत्य 'भावों' को प्रस्तुत करने हेतु है जो विशेष रूप से मानसिक या भावनात्मक स्थितियों का प्रस्तुतीकरण है जो मानवीय चेतना में अंतर्निहित रहती हैं।

(इ) 'ताडंव' जो एक ऊर्जस्वी नृत्य है पुरुष प्रतिनिधित्व के लिए उचित है।

(ई) 'लास्य' स्त्री प्रतिनिधित्व के समुपयुक्त सौम्य व सुकुमार नृत्य है।

अब हम चार 'अभिनयों' पर विचार करेंगे।

अभिनय

(i) सात्त्विक अभिनय

सात्त्विक अभिनय संपूर्ण मानवीय गतिविधि (अभिनय) है जो एकाग्रचित्त - चूँकि चित्त में उदित होता है - का प्रत्यक्ष परिणाम है और 'नृत्य' अथवा 'नाट्य' में अनुप्रयुक्त है। सात्त्विक अभिनय वह मनोभाव (रस) है जिसकी उत्पत्ति चित्त (भाव) से किसी विशेष परिस्थिति में होती है। यह रस दर्शकों में भी फैल जाता है और इस प्रकार ऐसी एकाग्रता से दर्शकों को भी आवृत कर देता है जो नर्तक स्वयं अनुभव करता है। इस प्रकार यह नर्तक का सात्त्विक अभिनय है जो दर्शक अथवा 'रसिक' (जो प्रस्तुति का आनंद लेता है) के आनंद अथवा अनुभूति को निर्देशित करता है जिसमें ऐसे भावों की जागृति नतर्क द्वारा होती है।

भरत आठ आधारभूत संवेगों (स्थायी भावों) को सूचीबद्ध करते हैं जो आठ प्रकार के 'रसों' को जन्म देती है जो अत्यंत मानवीय हैं।

स्थायी भाव	**रस**
रति	शृंगार (अभिवृद्धि अथवा कामोद्दीपक)
हास	हास्य (हास्योत्पादक)
शोक	करुणा (दुख अथवा दया)
क्रोध	रौद्र (रोष)
उत्साह	वीर (साहस अथवा पराक्रम)
भय	भयानक (भीति)
जुगुप्सा	वीभत्स (घृणा/विरक्ति)
विस्मय	अद्‌भुत (आश्चर्यजनक)

बाद में इनमें 'शान्तरस' जोड़ दिया गया जो जनसामान्य को प्रभावित करने वाले तीव्रता से प्रगतिशील भक्तिमार्ग के परिणामस्वरूप सामने आया। भरत 33 'व्याभिचारी भावों' अथवा अस्थायी स्थितियों को भी सूचीबद्ध करते हैं।

(ii) आंगिक अभिनय

यह अभिनय शरीर की भौतिक गतिविधियों व संचालनों द्वारा व्यक्त होता है और अंगविन्यास मुद्राओं एवं अंगविक्षेप भंगिमाओं द्वारा प्रतिनिधित्व पाता है। भरत शारीरिक संचालनों को इस प्रकार विभाजित करते हैं -

(अ) स्वयं देह से संबंधित जिसे वे शरीर कहते हैं जो प्रमुख अंगों - शिर (सिर), वक्ष (छाती), कटि (कमर), पार्श्व (दाएँ-बाएँ पहलू), त्रिक (नितंब), उरू (जाँघ), हस्त (हाथ) और पद (पैर) के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।

(आ) चेहरे से संबंधित जिसे वे मुखज कहते हैं और जो सहायक अंगों (उपांगों)-भ्रू (भौंहें), पुट (पलकें), तारा (पुतलियाँ), नासा (नाक), अधर (होठ), चिबुक (ठुड्डी), गण्ड (गाल) और दन्त (दाँत) से अभिव्यक्त होता है।

(इ) चेष्टाकृत - सामान्य तौर पर देह से संबंधित (प्रयत्नपूर्ण) जो पुनः तीन प्रकार के हैं - शाखा, अंकुर और सुचा। 'आंगिक अभिनय' के इन प्रकारों के यह 'हस्त' के साथ संयोजित 'मुखज' ही है जो विचारों के संप्रेषण एवं रसों की उत्पत्ति के लिए सर्वाधिक प्रासंगिक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्यों के पास निभाने के लिए कोई भूमिका नहीं है। संपूर्ण शरीर एक इकाई के रूप में कार्य करता है और इसीलिए शरीर

के अन्य भागों को सुसंगति का पालन करना होता है। इसका अर्थ केवल यह है कि अन्य भाग द्वितीयक भूमिका निभाते हैं।

बाद में ग्रंथों ने एक और वर्गीकरण जोड़ा और वे 'प्रत्यंग' हैं जहाँ ग्रीवा (गरदन), बाहु (भुजाएँ), जानु (घुटने), गुल्फ (एड़ी) के संचालनों को भी सम्मिलित किया गया है। ये रचनाएँ 'अभिनयदर्पण', 'संगीतरत्नाकर' आदि के समान उत्तरवर्ती हैं जो इस आधार वाक्य को सुनिश्चित करता है कि भरत के बाद की अवधि ने नृत्यकला का आविर्भाव एक महत्त्वपूर्ण कला के रूप में देखा। नृत्य प्राथमिक रूप से शरीर के संचालनों के साथ क्रियात्मकता रखता है और इस प्रकार यह अत्यंत स्वाभाविक है कि 'आंगिक अभिनय' की अवधारणा और अधिक महत्व प्राप्त कर लेती है।

(iii) वाचिक अभिनय

यह अभिनय नाट्य के साथ-साथ नृत्य प्रस्तुतियों में भाषा व उच्चारण के प्रयोग के साथ कार्य करता है। यह स्वरों (गीतों के गायन व यंत्रों के वादन में प्रयुक्त स्वर-संकेत), स्थान (स्वरमान/तारत्व), काकु (अनुतान) आदि को सम्मिलित करता है। नृत्य में यह गीतों एवं पद्यों को भी सम्मलित करता हैजो किसी प्रदर्शन की संगति करते हैं।

(iv) आहार्य अभिनय

यह अभिनय रंगमंचीय प्रस्तुतियों में वेशभूषा, आभूषणों, शरीर-सज्जा इत्यादि के प्रयोग के साथ कार्य करता है। उपरोक्त अध्ययन इस तथ्य को दर्शाता है कि जिस प्रकार नाट्य विज्ञान की परंपरा मौजूद थी बिल्कुल उसी प्रकार भारत में परपंपरा से बंधे नृत्य के विज्ञान का भी विकास हुआ। दोनों एक दूसरे के समप्रकृति होने के बावजूद दो सुनिश्चित व विशिष्ट धाराओं के रूप में प्रभावित रहे। समय गुजरने के साथ दुर्भाग्यवश भारत में इन दो धाराओं में, एक नाटक, पूर्णतया सूख गई। किंतु नृत्य की मुख्यधारा निरंतर प्रवाहमान रही और अब भी है। यह ऐसा करने में इसलिए समर्थ हुई क्योंकि नियमों का एक अत्यंत सुनिश्चित समूह इसके वैज्ञानिक प्रस्तुतिकरण का निर्देशक था और इसने इसके विशिष्ट सौंदर्य को हमारे शास्त्रीय नृत्य (क्लासिकल डाँस) के रूप में बनाए रखा।

इस पृष्ठभूमि की कसौटी पर कोई भी समकालीन भारतीय शास्त्रीय नृत्यों की विविधता में एकता की सराहना आरंभ कर देगा। ये सभी नृत्य शैलियाँ हमारे देश के विभिन्न भागों से प्रसूत हुई और एक सुनिश्चित जातीय समूह की संस्कृति का उत्पाद हैं। इसके बावजूद इन सभी नृत्य शैलियों की तकनीकों का स्रोत 'नाट्यशास्त्र' है। इसके विविध तत्त्व भाषा, सांगीतिक प्रकार, शरीर-संचलन और पूर्णतया सौंदर्यपरक सिद्धांत हैं जिनका इन नृत्यशैलियों में पालन होता है। अब हम प्रत्येक नृत्य शैली का संक्षिप्त परिचय देंगे।

भरतनाट्यम्

भरतनाट्यम् दक्षिणी राज्य तमिलनाडु की भव्य नृत्य शैली है। परंतु कोई यह अंदाज़ा नहीं लगा सकता कि द्रविड संस्कृति की धरती पर इसका उदय कब हुआ। ईसा की पहली कुछ शताब्दियों से ही द्रविड़ देश में नृत्य और संगीत की अत्यंत सशक्त पद्धति के प्रचलन के संदर्भ मिलते हैं।

आज का भरतनाट्यम इस महान परंपरा का अंतिम उत्पाद है। इसके कई नाम हैं जैसे 'चिन्न मेलम', 'सादिर', 'दासिअट्टम्' आदि। इसे 'भरतम्' भी कहा जाता था परंतु इस विशब्द की उत्पत्ति भरत ऋषि के नाम से न होकर नृत्य शैली के तीन मूलभूत पहलुओं से है - 'भाव' से 'भ' (मानसिक स्थिति अथवा संवेग), 'राग' से 'र' (सांगीतिक प्रकार), और 'ताल' से 'त' (समय-मापन)।

पारंपरिक रूप से इस भव्य कला का अभ्यास नर्तकी कन्याओं 'देवदासी' (देवता की दासी) का सम्मानित विशेषाधिकार था। इस पद्धति की जड़ें समूचे देश में देखी जा सकती हैं किंतु दक्षिण में यह पद्धति विशेष रूप से उभरती है। ये देवदासियाँ देवताओं की दासियाँ थीं परंतु वे इस कला की महान विदुषियाँ एवं विशेषज्ञाएँ थीं और विपरीत परिस्थितियों के बावजूद ये उनकी महत् भावना ही थी जिसने इस कला को अमर कर दिया।

भरतनाट्यम् देवता के चरणों में प्रस्तुत की जाने वाली व्रतबद्ध आहुति है। इसी प्रकार यह अवश्य याद रहे कि अधिकतर नृत्य रूप या तो धार्मिक-दार्शनिक प्रकृति के हैं अथवा ईश्वर की महिमा की प्रशंसा में सीधे-सीधे भक्तिगीतों के रूप में हैं। परंतु इसमें ऐसे तत्त्व भी समाहित हैं जो धर्मनिरपेक्ष प्रकृति के हैं। यह एकल प्रस्तुति के रूप में अभिप्रेत हैं, किंतु कभी-कभी एक से अधिक नर्तक भी हो सकते हैं।

तकनीकी तौर पर भरतनाट्यम् 'नृत्त' और 'नट्ट' दोनों का विवेकसम्मत मिश्रण है। भरतनाट्यम् तकनीक अति शुद्ध एवं सुपरिभाषित रूपरेखा पर गहरा जारे देती है जिसे संपूर्ण शरीर विशेषतया धड़ एवं हाथों को बनाए रखना होता है। धड़ की ऊर्ध्वाधर और ऊर्ध्वशीर्ष स्थिति, पीछे झटके हुए कंधों का सुचारु सीधापन इसे कोणीयता प्रदान करते हैं जो स्फूर्तिदायक होने के साथ-साथ आकर्षक भी होती है।

भरतनाट्यम् में नृत्य निश्चित रूप से भरत द्वारा निर्दिष्ट 'रसों' का प्रयोग करता है। 'हस्तों' (हाथ की मुद्राओं) के लिए यह नंदिकेश्वर द्वारा रचित संस्कृत ग्रंथ 'अभिनय दर्पण' का अनुसरण करता है। इसका संगीत प्रकार क्लासिकल कर्नाटकी है जिसमें विस्तृत ताल प्रणाली शामिल है। नृत्य प्रस्तुतियों के लिए गान और गीत दक्षिण भारतीय संत कवियों के लेखन से चुने गए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ समकालीन कवियों और उस तंजौर चतुष्क (चार कवि) के गीत हैं जिसने आज के रंगपटल की रचना की है।

क्योंकि यह एक एकल नृत्य है अत: आहार्य (वस्त्रादि) सामान्यतया समरूप हैं। नर्तक के वस्त्र पर इसका कोई असर नहीं पड़ता कि वह किस प्रकार के चरित्र का चित्रण कर रहा है। अन्य शब्दों में एकल नर्तक किस प्रकार के चरित्र का चित्रण कर रहा है उससे वस्त्रों में कोई परिवर्तन नहीं आता। साधारणत: आजकल पहने जाने वाले नतर्क के वस्त्र सिले हएु होते हैं। आभूषण वहीं हैं जो तमिल दुल्हनें पहनती हैं तथा जो देवताओं की दुल्हन 'देवदासी' के लिए उपयुक्त हैं।

इस नृत्य के अग्रणी आख्याता हैं - डॉ० पद्मा सुब्रमनियम, श्रीमती चित्राविश्वेश्वरन्, श्रीमती अलरमेलु वल्ली, श्रीमती मालविका सरुक्कई, श्रीमती लीला सैमसन, श्रीमती शान्ता व श्री धनंजय।

डॉ. पद्मा सुब्रमण्यम

भरतनाट्यम नृत्य के लिए देखें

स्रोत: **https://www.youtube.com/watch?v=DlfprSrsrCo)**

मोहिनी अट्टम्

मोहिनी अट्टम केरल का एक गीतात्मक एवं सम्मोहक नृत्य रूप है। यह भारत की अन्य शास्त्रीय नृत्य शैलियों के अनुरूप स्त्री-उन्मुख व्याख्या का एकमात्र वाहन बन गया। यह शुद्ध दृश्य-सौंदर्य का एकल नृत्य है जो मंदिर के सतर्क निर्देशन और प्रथाओं की जकड़ से पूर्णतया मुक्त है। इस नृत्यकला में भक्तिमय भाव-प्रवणता मान्य है किंतु यह अनिवार्य नहीं है। साथ ही धार्मिक-दार्शनिक अभिमतों को नृत्य के केंद्रीय विचार जो कि सम्मोहकता है में हस्तक्षेप की अनुमति नहीं है। इस नृत्य का नाम ही इसके सौंदर्य बोध को अभिव्यक्त करता है (महाविष्णु मोहिनी रूप में आर्विभूत हुए और दानवों को अपनी माया की मोहिनी से मंत्रमुग्ध करने के लिए सम्मोहनकारी नृत्य किया)। केरल का प्राकृतिक सौंदर्य इस नृत्य की गीतात्मक और झुमा देने वाली गतिशीलता को पर्याप्त प्रेरणा प्रदान करता है। इस नृत्य का गोलाकार दैहिक गतिशास्त्र, धड़ का विशिष्ट तरंगित उभार और कोमल चाल केरल के हरे-भरे धान के खेतों, लहराते हुए तालपत्रों और किनारों पर कल-कल करते जल की अनुभूति का सृजन करते हैं।

कुछ विद्वान मोहिनी अट्टम् नृत्य की जड़ों को ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी से देखते हैं (जो महान तमिल काव्य शिल्पदिकारम् का काल माना जाता है)। जबकि अन्य लोगों का मानना है कि इसकी रचना 18वीं शताब्दी के मध्यकाल में त्रावणकोर के महाराज स्वाति तिरुनाल के आदेश पर की गई। परंतु इसमें से कोई भी धारणा सही नहीं है।

भारत के सभी नृत्यरूप लगातार परिवर्तित होती सामाजिक संरचना के साथ-साथ क्रमिक विकास, परिवर्तन और सुधार की दीर्घ प्रक्रिया का अंतिम उत्पाद है। चूंकि नृत्य और संगीत शिल्पादिकारम युग में अत्यधिक उन्नत कला रही है अत: हम यह अनुमान कर सकते हैं कि मोहिनी अट्टम् उस नृत्यरूप में अपनी जड़ें रखता है जो उस अवधि के दौरान केरल में प्रचलित था। साहित्यिक साक्ष्य दर्शाते हैं कि 17वीं शताब्दी ईस्वी के प्रारंभिक काल में यह अत्यधिक लोकप्रिय था जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसका उद्भव निश्चित तौर पर उससे पहले हुआ होगा। यह लगभग 400-500 वर्ष पुराना है। मोहिनी अट्टम् एक नृत्य है जो उस सम्मोहकता को प्रतिबिंबित करता है जो जीवन है। अपने गुणों से यह दर्शक पर सम्मोहन के रागों में माया की मोहिनी, भ्रम का एक झीना जाल डालता है और उसे सम्मोहन और सौंदर्य के पथ के साथ-साथ ज्ञान की और भी ले जाता है।

बीते दो दशकों में मोहिनी अट्टम् केरल की समृद्ध रंगमंचीय परंपरा में जड़ें रखने वाले नये रंगपटल में ढाल दिया गया है। 'सोपान संगीतम' का विस्तृत प्रयोग भी संगीतात्मक व्यवस्था के लिए किया जाता है। 'सोपान संगीतम्' गायन की एक शैली है जो केरल में ही जन्मी है इसके कुछ विशिष्ट राग हैं जो अन्य प्रणालियों में प्राप्त नहीं होते किंतु कर्नाटकी राग बड़े पैमाने पर गायन की 'सोपान' विधा में अंगीकृत हैं। इसके अग्रणी आख्याता हैं - डॉ० कनक रेले, श्रीमती भारती शिवाजी, श्रीमती केशमावती, श्रीमती दीप्ति भल्ला, श्रीमती लीलम्मा।

डॉ कनक रेले

स्रोत: https://www.youtube.com/watch?v=IZ6fSuXieKo)

कथकली

कथकली केरल के दक्षिणी राज्य का कथा-नृत्य है। शाब्दिक रूप में 'कथ' कथा (कहानी) और 'कली' का अर्थ नृत्य अथवा प्रदर्शन है। यह एक मिश्रित कला है जहाँ विभिन्न अभिनेता नर्तक भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ लेते हैं। कथाएँ सामान्य तौर पर भारतीय महाकाव्यों, रामायण और महाभारत से ली जाती हैं। कथकली एक बहुत ऐश्वर्यशाली कला है और जब आप इसकी वेशभूषा देखेंगे तो आप अनुभव करेंगे कि कितने अधिक विचार और सौंदर्यपरक मूल्य इस कला के निर्माण में सम्मिलित हुए हैं। इस नृत्य में समस्त विचार 'संपूर्ण रंगमंच' का है जहाँ अभिनय, संगीत-गायन और वादन, और रंग मनोविज्ञान एवं वेशभूषा सभी एक समान भूमिकाएँ अदा कर रहे हैं।

नृत्य प्रदर्शन समारोहात्मक प्रदीप के प्रज्जवलन से प्रारंभ होता है। इसकी केवल दो वर्तिकाएँ होती हैं - एक वर्तिका श्रोताओं की ओर और दूसरी मंच की ओर होती है। यह रेखांकित करती है कि ज्ञान का प्रकाश न केवल अभिनेताओं बल्कि श्रोताओं तक भी अवश्य पहुँचना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस नृत्य का और क्या संदेश है? संदेश स्पष्टतया सरल है। इसका संदेश 'बुराई पर अच्छाई की जीत' का है। कथकली को 'कल्पना जगत के रंगमंच' के रूप में वर्णित किया जा सकता है जहाँ राक्षस और सज्जन कल्पना लोक में टकराते हैं और जहाँ अंतत: सज्जन ही विजयी होते हैं। कथकली मुख-सज्जा भारतीय शास्त्रीय नृत्य शैलियों में सभी प्रकार की मुख-सज्जाओं की अपेक्षा सर्वाधिक जटिल और विविधरंगी है। यह मुख-सज्जा 'वेशम्' कही जाती है और यह रंग मनोविज्ञान का अनुसरण करती है। इसमें पात्र सुनिश्चित समूहों में विभाजित रहते हैं। इसमें 'उत्तम' पात्रों का गारै वपूर्ण चरित्र है। 'मध्यम' पात्र मध्यम गुणों वाला चरित्र है और अधम पात्र निम्न कोटि का चरित्र है। प्रत्येक पात्र का अपना विशिष्ट रंग होता है जो इस प्रकार है -

उदाहरण के लिए जब चेहरे पर हरे रंग का आधार जिसे 'पछ' मुख-सज्जा कहा जाता है प्रयुक्त हो तो यह चरित्रों के अच्छे अथवा उच्च प्रकार का अर्थ देता है। मध्यवर्ती पात्र अपने गालों पर चाकू जैसे विन्यास का चित्रण करते हैं तथा निम्न स्तरीय पात्र जो पूर्णतया दुर्जन हैं कंटकित अथवा 'तादिवेशम्' कहे जाते हैं और वे लाल और काले रंगों की प्रधानता रखते हैं। गालों को श्वेत रेखाओं से बाह्यंकित किया जाता है जिसे 'चुट्टी' कहा जाता है जो कपड़ों की पट्टियों से बना होता है तथा चावल के आटे और चूने के बने हुए लेप द्वारा साथ में जुड़ा होता है

ऐतिहासिक रूप से कथकली रंगमंचीय प्रचलनों की सुदीर्घ परंपरा का अंतिम उत्पाद है। कथकली की उत्पत्ति 'कुट्टीयट्टम' से देखी जा सकती है। यह एक संस्कृत नाटक है जिसे चक्कयार ब्राह्मण समुदाय ने लगभग 2000 वर्षों से संरक्षित रखा है। दक्षिणी महाकाव्य 'शिल्पदिकारम्' में ऐसे संदर्भ मौजूद हैं जो उस नृत्य का वर्णन करते हैं जिसे चक्कयार ब्राह्मण विजेता राजा के सम्मान में प्रस्तुत करते थे। 'कुट्टीयट्टम्' का वर्तमान स्वरूप 1000 ईस्वी में निर्धारित हुआ। चक्कयारों की कला के साथ-साथ महिलाओं द्वारा प्रस्तुत नग्यारकुट्टु भी समृद्ध हुआ। 16वीं शताब्दी में इस नृत्य रूप का विकास 'कृष्ण अट्टम्' रूप में हुआ जो आठ दिनों में कृष्ण के युग को प्रस्तुत करता है। बाद में 17वीं शताब्दी में 'रामानाट्टम्' का विकास हुआ जो राम के युग को प्रस्तुत करता है। यह 'रामानाट्टम' है जो प्रचलन में नहीं है और अब कथकली रूप में जाना जाता है। इसके अग्रणी आख्याता हैं - श्री कलामंडलम् रमणकुट्टी नायर, कलामंडलम् गोपी, नेल्लिओडे वासुदवे न नंबूदिरी।

Shri Kalamandalam Ramankutty Nair

एक कलाकार कथकली नृत्य प्रदर्शित करता हुआ

(स्रोत: https://www.google.co.in/search?q=A+Kathakali+Artist&rlz)

मणिपुरी

मणिपुरी नृत्य भारत के उत्तर-पूर्वी राज्य मणिपुर से आता है। मणिपुर का साहित्यिक अर्थ है - "रत्नों का नगर"। यह निश्चित तौर पर एक रत्न है। बहुत ही सुंदर पहाड़ियों और हरे-भरे मैदानों से घिरे हुए इस सुंदर राज्य ने भारतीय संस्कृति के रत्नों में एक को उत्पन्न किया है और वह मणिपुरी नृत्य है। मणिपुर के लोगों के लिए नृत्य जीवन का मार्ग है क्योंकि यहाँ के लोग अत्यधिक धार्मिक हैं अत: तब तक कोई पूजा संभव नहीं है जब तक इसमें नृत्य और संगीत शामिल न हो। इस कारण मणिपुर का लगभग प्रत्येक व्यक्ति नृत्य और गायन जानता है और उनमें से कई विभिन्न वाद्य यंत्रों का वादन भी जानते हैं।

वर्तमान मणिपुरी रंगपटल अथवा उसका रूप महाराजा श्री भाग्य चंद्र के शासन के दौरान 17वीं शताब्दी के अंत और 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में रचा गया। आज की इस नृत्य शैली के क्लासिकल भाग की दो मुख्य धाराएँ हैं। इसकी एक धारा 'संकीर्तन' है जो भक्तिमय पहलू है तथा दूसरी धारा 'रास' है। क्योंकि यहाँ के अधिकतर लोग वैष्णव हैं अत: नृत्य प्रस्तुतियों में कृष्ण से संबंधित विभिन्न रासों को प्रस्तुत किया जाता है। भव्य रंगीन वेशभूषा इस नृत्य शैली की सुंदरता को बढ़ा देती है जो 'तांडव' और 'लास्य' दोनों को सुपरिभाषित करती है। 'तांडव' का पहलू विभिन्न मृदंग नृत्यों 'पुंग-चोलोम' और हाथों में झांझ-मंजीरों के साथ नृत्यों 'करताल-चोलोम' में प्रस्तुत होना है। 'लास्य' का पहलू अलौकिक रूप से सुंदर एवं कोमल संचालकों द्वारा प्रस्तुत होता है जिसमें गोपियों और राधा का प्रस्तुतीकरण है।

मणिपुर के प्रारंभिक पूर्व-हिंदू नृत्य जीवत्वारोपी प्रकृति के थे तदुपरांत उनके स्थानीय अवतारों में शिव और पार्वती की उपासना के रूप में प्रस्तुत नृत्य आए और उसके बाद वैष्णववाद आया जिसने गहरी जड़ें जमाईं। आज यह राज्य का प्रमुख धर्म बन गया है।

वर्तमान मणिपुरी रंगपटल में तीन मुख्य धाराएँ हैं -

(1) संकीर्तन जो अत्यंत धार्मिक और आनुष्ठानिक हैं।

(2) कृष्ण और गोपियों द्वारा प्रस्तुत 'रास'।

(3) 'लाई हरओबा' जो पारंपरिक शैलीबद्ध नृत्य है।

'रास' की तीन श्रेणियाँ हैं -

'कुंजरास', 'वसंत रास' और 'महारास'। 'कुंजरास' कजुं अथवा उद्यान में कृष्ण और राधा की भेंट का वर्णन करता है जिसमें राधा की सखियाँ सहायता करती हैं। 'वसंतरास' कृष्ण और गोपियों के रास और उससे राधा के मन में उत्पन्न हुई ईर्ष्या और अंतत: उनके समझौते का वर्णन करता है। यह नृत्य सामान्यतया वसंत के समय प्रस्तुत किया जाता है और कृष्ण एवं राधा द्वारा रंग फेंकने और छिड़कने की प्रतिनिधि गतिवधियों के साथ समाप्त होता है जो होली के त्यौहार का स्मरण कराता है। 'महारास' कृष्ण और गोपियों के द्वारा चक्राकार रूप में किये जाने वाले नृत्य की प्रस्तुति है। 'संकीतर्न ' दो प्रकार के 'चोलोम' - 'पुंग चोलोम' और 'करताल चोलोम' रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

मणिपुरी नृत्य की विशेषता इसका तरल संचालन है। प्रत्येक संचालन अगले संचालन में प्रवाहित होता प्रतीत होता है। इसमें कलाइयों और हथेलियों के अत्यधिक गरिमापूर्ण संचालन भी शामिल हैं। अन्य शास्त्रीय नृत्यों से भिन्न मणिपुरी नृत्य पैरों के भारी और कठोर आघातों का प्रयोग नहीं करता हालांकि इसके पास ताल-विन्यासों के विस्तृत प्रकार हैं। पग संचालन प्रमुखातया अंगूठों पर संपादित होता है जो इस नृत्य को इसकी विख्यात पारलौकिक गुणवत्ता प्रदान करता है। महिला नर्तकियों का आविर्भाव इस प्रकार होता है जैसे

कि वे हवा में उड़ रही हों। मृदंग नृत्य इस नृत्य शैली के समेकित भाग का गठन करते हैं। लगभग प्रत्येक नर्तक जानता है कि पुंग को कैसे बजाना है और अधिकतम पुरुष नर्तक 'पुंग चोलोम' का प्रदर्शन करते हैं। 'पुंग चोलोम' का शब्दशः अर्थ मृदंग नृत्य है। इसमें नर्तक पुंग (मृदंग) के साथ नृत्य करता है जो एक आघात-वादन यंत्र है। यह संभवतया ठोस रूप में प्रस्तुत की जाने वाली ताल की साररूप अवधारणा का सुंदरतम प्रकटीकरण है। नतर्क नृत्य करता है और स्वयं को मृदंग का साथी बना लेता है।
इसके अग्रणी आख्याता हैं - गुरु सिंह अजीत सिंह, झावेरी बहनें, प्रीति पटेल।

गुरु सिंह अजीत सिंह एवं उनकी पत्नी चारू सिजा माथुर
स्रोतः https://en.wikipedia.org/wiki/Rajkumar_Singhajit_Singh

मणीपुरी नृत्य प्रदर्शित करते कलाकार
मणीपुरी नृत्य के लिए देखें:
http://video.webindia123.com/dance/manipuri/2/)

ओडिसी

7वीं शताब्दी ईस्वी का ग्रंथ विष्णुधर्मोत्तर पुराण कहता है 'विनातु नृत्यशास्त्रेणु चित्रसूत्रम सुदुर्विदम्।' इस ग्रंथ का प्रतिपादन करने वाले ऋषि कहते हैं कि नृत्य कला के ज्ञान के अभाव में अन्य सुनन्य कलाएँ समझी नहीं जा सकतीं। यह स्पष्टतया मूर्तिकला और नृत्य की सह संबंधशीलता को प्रदर्शित करता है। ऐसा कहा जाता है कि नृत्य चलित मूर्तिकला है और मूर्तिकला स्थिर नृत्य। इस संदर्भ में उड़ीसा की यह शास्त्रीय नृत्य शैली ओडिसी एक ज्वलंत उदाहरण है। ओडिसी मूर्ति रूप की भंगिमाओं से सुगंधित है जो कोणार्क तथा अन्य मंदिरों की गौरवपूर्ण प्रस्तर मूर्तिकला का स्मरण कराती है। ओडिसी लालित्य की सादगी द्वारा चिह्नित होती है। ओडिसी 10वीं शताब्दी ईस्वी में अद्‌भुत मानी मानी गई, किन्तु 12वीं शताब्दी में इसका आश्चर्यजनक उत्थान हुआ। जब कवि जयदेव, जो पुरी मंदिर स्थित भगवान जगन्नाथ के महान भक्त थे, ने अपना अमर प्रेम-गीत 'गीत-गोविंद' लिखा। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने इसे विशेष रूप से नृत्य और संगीत में व्याख्यायित किये जाने के लिए लिखा और उनकी पत्नी पद्‌मावती, जो स्वयं एक देवदासी थी, ने उड़ीसा के मंदिरों में इस पर नृत्य किये। उड़ीसा में ये देवदासियाँ 'महारि' कही जाती हैं। इस नृत्य की एक विधा और है जिसमें युवावस्था की दहलीज़ पर खड़े बालकों द्वारा नृत्य किया जाता है। इन बालकों को 'गोटिपुआ' कहा जाता है और ये बालक ही हैं जो नटों की भांति शारीरिक संतुलन से भरपूर नृत्य में और अधिक डूबे होते हैं। यदि कोई इसकी विशेषता का वर्णन करे तो ओडिसी सौंदर्य की मूर्तिसृदश मुद्राओं और मोहक त्रिभंजी के अभिव्यक्तिकरण में विश्वास करती है और शरीर का यह तिहरा मोड़ हमें सामान्य तौर पर भारतीय कला के सौंदर्य का स्मरण कराता है।

जब हम शताब्दियों के साथ आगे बढ़ते हैं तो हम जगन्नाथ मंदिर की दैनिक रस्म के रूप में गीत-गोविंद के गायन और मंदिर की प्रथाओं के भाग के रूप में निर्धारित समय पर 'महारीस' के नृत्य की युगल परंपरा की अविच्छिन्न श्रृंखला पाते हैं। 15वीं शताब्दी ईस्वी तक वैष्णववाद एक धार्मिक संप्रदाय के रूप में उड़ीसा के लोगों का मुख्य धर्म बन गया और भक्ति समुदाय ने महान संवेग प्राप्त किया।

तकनीकी रूप में ओडिसी 'नाट्यशास्त्र', 'अभिनयदर्पण' और 'अभिनय चंद्रिका' के समादेशों को समायोजित करती हुई उच्चस्तरीय शैलीबद्ध नृत्य विद्या है। ओडिसी नृत्य दोनों (नृत्य और नाट्य) दृष्टि से संपूणर्त या सुपद्धतिबद्ध और सर्वांगपूर्ण तकनीक रखती हैं। इस तकनीक का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण शरीर के विभिन्न मोड़ 'भंगी' है, भारतीय शिल्पकला और मूर्तिकला के त्रिभंग पहलू का ओडिसी में पूर्ण रूप से संदोहन हुआ है।

पैरों की आधारभूत सरल थाप के साथ गर्दन, कमर एवं नितंब के मोड़ों से समन्वित होकर ओडिसी नृत्य की प्रगति होती है। कभी-कभी वक्ष भाग विकर्णगत गति करता है जो मूर्ति समान प्रभाव को और बढ़ा देता है। शिल्पकला के निकटतम होने के कारण ओडिसी 'सूत्र', 'मान' आदि मूर्ति निर्माण के सिद्धांतों का प्रयोग करती है। ओडिसी के संचालन अपने में ताल एवं लय दोनों का समावेश करते हैं। इसमें भुजाओं और हाथों की स्थिति वर्गाकर होती है। ये संचालन सामान्यतया पार्श्वों और 'कटि' के लय संकेतों के निर्देशों का पालन करते हैं और नृत्यरत काया या शरीर की संपूर्ण संरचना को संतुलित करते हैं। इसके अग्रणी आख्याता हैं- श्रीमती सोनल मानसिंह, श्रीमती कुमकुम मोहंती, श्रीमती माधवी मुद्‌गल, श्रीमती किरण सहगल।

कुचिपुड़ी

कुचिपुड़ी भारत के दक्षिणी राज्य आंध्र प्रदेश की एक नृत्य शैली है। इसे सही रूप में नृत्य नाटक कहा जा सकता है। अपने प्रभावी रूप में कुचिपुड़ी संपूर्ण रंगमंच की अवधारणा है जहाँ सभी चार अभिनयों जैसे वाचिक-उच्चारित शब्द, आंगिक-शरीर संचालन, सात्विक-जो मानवीय भावों और संवेदनाओं के साथ है और अहार्य-वस्त्र एवं वेश-सज्जा का सम्मिश्रित स्वरूप मौजूद है।

कुचिपुड़ी आंध्र-प्रदेश के कृष्णा जिले का बहुत छोटा-सा गाँव है और यह नृत्यशैली अथवा नृत्य-नाट्य यहाँ अत्यधिक उच्च जातीय ब्राह्मणों द्वारा पारंपरिक रूप से पालित है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस नृत्य की रचना 15वीं शताब्दी में हुई और बाद में संत सिद्धेंद्र योगी ने इस नृत्य में पर्याप्त ओजस्विता और उत्साह का योग किया। इस नृत्य का सर्वाधिक विशिष्ट लक्षण इसके प्रस्फुरणशील और अत्यधिक जीवंत पद और शारीरिक संचालन हैं। इस नृत्य में नाज़-नख़रे भी पर्याप्त मात्र में सम्मिलित हैं जिसका कारण यह है कि इस नृत्य में स्त्री संबंधी प्रभाव अधिक है।

कुचिपुड़ी नृत्य का मूल उद्देश्य भगवान विष्णु के गुणों और महान कार्यों का गुणगान करना है और यह 'भागवतम्' का अनुसरण करता है। कुचिपुड़ी में किसी स्त्री को भाग लेने की अनुमति नहीं है और स्त्री भूमिकाएँ युवा ब्राह्मण बालकों द्वारा निभाई जाती हैं। इस अर्थ में यह संयोजित कला भी है कि विभिन्न अभिनेता विभिन्न भूमिकाएँ करते हैं। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कोई भी कला गतिहीन नहीं हो सकती। बीते हुए तीन अथवा चार दशकों में एकल प्रस्तुतियाँ रची गई हैं और प्रदर्शित की जा रही हैं।

कुचिपुड़ी के विकास में दो योगियों ने केंद्रीय भूमिकाएँ अदा की हैं। ये हैं- तीर्थ नारायण यति और उनके शिष्य सिद्धेंद्र योगी। ये दोनों कृष्ण के समर्पित भक्त थे। उनका महान प्रेम विशिष्ट भक्ति साहित्य में प्रवाहित हो रहा है। तीर्थ नारायण ने संगीतात्मक नृत्य नाटिका के रूप में 'कृष्णलीला तरंगिणी' लिखी। उनके शिष्य सिद्धेंद्र योगी ने प्रसिद्ध काव्य 'श्रृंगार पारिजातापहरण' की रचना की। हालांकि नृत्य-नाट्य रूप में इसे प्रस्तुत करने में वे देव दासियों से दूर रहे और बजाय इसके उन्होंने भूमिकाएँ निभाने के लिए युवा ब्राह्मण बालकों का चयन किया। यह नृत्य-नाट्य आज भी प्रदर्शित किया जाता है और अपनी शैली का अनूठा प्रतिनिधि है। कुचिपुड़ी की तकनीकें नृत्त, नृत्य और नाट्य तत्त्वों का सूक्ष्म संतुलन प्रदर्शित करती हैं, इसमें अंतिम वाचिक अभिनय की प्रधानता का धारक है। इस प्रकार कुचिपुड़ी अभिनेता/नर्तक न केवल अपने हिस्से का गायन और नृत्य करते हैं बल्कि खुद ही अपने संवादों की अदायगी भी करते हैं।

कुचिपुड़ी प्रदर्शन के दो अत्यधिक लाक्षणिक पहलू प्रदर्शन के 'सूत्रधार' (संचालक) और 'प्रवेशदरु' के पात्र हैं जो नृत्य और गीत का लघु संयोजन है जहाँ प्रत्येक पात्र स्वयं को उद्घोषित करता / करती है और कुशलतम रूप में अपनी पहचान का उद्घाटन करता / करती है।

प्रस्तुति का एक अन्य विशेष लक्षण 'पगतिवेशमु' है जो किसी नाटक में मौजूद हास्यपरक अनुक्रम है किन्तु जो मूल ग्रंथ से नहीं होता। इसे कुछ मूल अनुक्रमों की गंभीरता से मुक्त होने के लिए जोड़ा जाता है और आशुरुपेण अभिनीत किया जाता है। इसके अग्रणी आख्याता हैं- श्री वेदांतम् सत्यनारायण शर्मा, श्रीमती यामिन कृष्णमूर्ति, श्रीमती शोभा नायडू, श्रीमती स्वप्नसुंदरी, श्रीमती राधा और श्री राजा रेड्डी।

Yamini Krishnamurthy

यामिनी कृष्णमूर्ति

कुचीपुड़ी नृत्य के लिए देखें:

स्रोत: **https://www.youtube.com/watch?v=YbRX_cdTap8)**

यामिनी कृष्णमूर्ति के ओडिसी एवं भरतनाट्यम नृत्य क लिए देखें:

स्रोत: **https://www.youtube.com/watch?v=8CtoVaxA_xc)**

कथक

उत्तर भारत की शास्त्रीय नृत्य शैली 'कथक' प्रस्फुरणशील पदसंचालन और विद्युतवत् चक्करों (चक्राकार गति) की संकल्पनाओं का जादू दिखाती है। 'कथक' शब्द की व्युत्पत्ति कथा शब्द से हुई है जिसका अर्थ कहानी है। प्राचीनकाल में भ्रमणशील चारण गाँव-गाँव धूमकर मुख्यतया दो महाकाव्यों रामायण और महाभारत का सस्वर पाठ किया करते थे। अपनी कला को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए उन्होंने इसमें नृत्य और गीत का समावेश प्रारंभ किया।

भारत पर मुस्लिम आक्रमण के दौरान किसी समय इस कला में फ़ारसी प्रभाव आया जिसे तवायफ़ कही जाने वाली नृत्यांगनाओं द्वारा लाया गया और इस प्रकार एक अत्यधिक आध्यात्मिक नृत्य धीरे-धीरे दरबारी प्रस्तुति में बदलना प्रारंभ हो गया। आज हम कथक में जो कुछ देखते हैं वह इन दो धाराओं का मिश्रण है। यह नृत्य शैली दरबारपरक वातावरण रखती है और साथ ही साथ यह अत्यधिक आध्यात्मिक भी है।

मुस्लिम शासकों के उद्‌भव के साथ कथक 'मंदिर के नृत्य' से 'समूह नृत्य' में बदल गया। इसके उपरांत यह दो भिन्न धाराओं के विकास में परिणत हुआ। एक जयपुर के दरबार में हिंदू संरक्षण पर निर्भर थी, और दूसरी दिल्ली, आगरा और लखनऊ के मुस्लिम दरबारों के समर्थन से युक्त थी। हलांकि इन दोनों ही धाराओं में कथक को एकल कला के रूप में समझा जाता है जहाँ उत्कृष्टता का स्पर्शबिन्दु एकल नर्तकों की गुणशीलता विशेषतया लयकारी अथवा पद संचालन पर उनकी पकड़ है।

विशेष रूप से जयपुर-धारा में कथक के नृत्त रूप पर अधिक बल दिया गया और इस प्रकार नृत्त शैली को शक्तिशाली यांत्रिक प्रदर्शन के वाहन के रूप में स्थापित किया गया। जहाँ मुस्लिम सरंक्षकों ने विशुद्ध लयात्मक चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन को कभी अत्यधिक वरीयता नहीं दी, उन्होंने ऐसी कला की कल्पना की जो मानवीय संवेदनाओं और सांसारिक परिस्थितियों से भरपूर थी। इस प्रकार कथक की उनकी शैली ने 'भावों' से भरपूर 'नृत्य' पर जोर दिया। इस प्रकार यह कथक अधिक गरिमापूर्ण और इंद्रियनिष्ठ रूप में परिवर्तित हो गया। यह धारा लखनऊ घराने के रूप में पहचानी गई और अवध के नवाब वाजिद अली शाह

के काल में अस्तित्त्व में आई। इसके मुख्य कलाकार ठाकुर प्रसाद थे जिनके दो पुत्रों कालका और बिंदादीन ने इसमें महारत हासिल की।

कथक के विकास में यह वाजिद अली शाह का योगदान है जो उल्लेखनीय है। वे एक पारंगत नर्तक और संगीतज्ञ एवं हिंदी और उर्दू के अच्छे कवि थे। उन्होंने नृत्य और संगीत पर उदारता से व्यय किया जिसने ईस्ट इंडिया कंपनी के अंग्रेज अधिकारियों की उनके प्रति ईर्ष्या जगायी और जिन्होंने उन्हें सिंहासनच्युत कर कलकत्ता निर्वासित कर दिया तथा अवध के उनके राज्य को अपने में मिला लिया। परन्तु वाजिद अली शाह अपनी मृत्यु तक अंग्रेजों से प्राप्त होने वाली पेंशन कथक और संगीत पर खर्च करते रहे।

कथक नृत्य का एक उल्लेखनीय पहलू चक्कर अथवा चक्रण या घूर्णन है जो विद्युत गति से संपूर्णतया संतुलित प्रस्फुटन एवं भंगिमा में प्रस्तुत किया गया है। इसके अग्रणी आख्याता हैं- पंडित बिरजू महाराज, श्रीमती कुमुदिनी लखिया, श्री राजेन्द्र गंगानी, श्रीमती उमा शर्मा, श्रीमती प्रेरणा श्रीमाली, श्रीमती शाश्वती सेन।

Pandit Birju Maharaj
पंडित बिरजू महाराज

(स्रोत: https://www.google.co.in/search?q=Pandit+Birju+Maharaj)

पंडित बिरजू महाराज के कत्थक नृत्य के लिए देखें:
https://www.youtube.com/watch?v=4V4ntveybTo)

3.3.5 उपसंहार

प्रदर्शनकारी कलाओं के महत्त्वपूर्ण घटकरूपी भारतीय शास्त्रीय नृत्य के विभिन्न रूपों के विकास का अध्ययन हमें प्राचीन काल से अब तक लोगों की कलात्मक उपलब्धियों को समझने में समर्थ बनाता है। यहाँ

यह उल्लेखनीय है कि कथ के विभिन्न रूपों का क्रमविकास उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक-आर्थिक एवं धार्मिक परिवर्तनों से संबंधित है।

अभ्यास-3

(अ) निम्नलिखित नृत्य किन क्षेत्रों से संबंधित हैं:

(i) भरत नाट्यम (ii) मोहिनी अट्टम (iii) मणिपुरी (iv) कथकली (v) कुचीपुड़ी

(ब) निम्नलिखित नृत्यों के दो-दो कलाकरों के नाम बताईये:

(i) कत्थक (ii) ओडिसी (iii) कुचीपुड़ी

(स) 'सही' या 'गलत' बताईये:

(i) डॉ. पद्मा सुब्रमण्यम भरत नाट्यम की एक अग्रणी कलाकर हैं।

(ii) पंडित बिरजू महाराज एक प्रसिद्ध कथकली नतृक हैं।

(iii) वाजिद अली शाह ने कत्थक के विकास में योगदान दिया।

(iv) कुचीपुडी आंध्र प्रदेश का एक क्लासिकल नृत्य है।

(ड) लघु प्रश्न:

1. कुचीपुड़ी नृत्य के प्रमुख लक्षणों की व्याख्या कीजिए।
2. कत्थक के उद्भव और विकास पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

(च) दीर्घ प्रश्न:

1. भरतनाट्यम् अथवा मणिपुरी के संदर्भ में भारतीय शास्त्रीय नृत्य के रूपों का विवरण दीजिए।
2. क्या आप इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं कि भारत का 'नाट्यशास्त्र' नाटक, नृत्य और संगीत के लिए कलाकार की संहिता है।

संदर्भ सूची

1. कपिला वात्स्यायन, 'इंडियन क्लासिकल डांस', प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1974
2. मीनाक्षी भवानी, 'डांस इन इंडिया', डी०बी० तारापारे वाला, बॉम्बे, 1965
3. एम० बोस, 'क्लासिकल इंडियन डांसिंग', जनरल प्रिंटर्स, कलकत्ता, 1970
4. रागिनी देवी, 'डांसेज़ ऑफ इंडिया', कलकत्ता, 1962

3.4 भारत की रंगमंच संस्कृति

3.4.1 भूमिका

रवींन्द्र नाथ टैगोर ने एक बार कहा था किसी राष्ट्र की संस्कृति को उसके रंगमंच के स्तर से आंका जा सकता है। इसी प्रकार महान रूसी अभिनेता और निर्माता स्टानिसवालस्की (Stanislavsky) ने मंच को राष्ट्र के सौंदर्यपरक रूचि को प्रदर्शित करने का माध्यम बताया। वहीं जॉर्ज बर्नाड शॉ (George Bernard Shaw) ने अपनी चारित्रिक शैली में मंचीय संस्कृति की इस प्रकार घोषणा की, "राष्ट्र की आत्मा हेतु राष्ट्रीय रंगमंच का होना अत्यंत आवश्यक है।" प्रत्येक भाषा के साहित्य में कई ऐसे नाट्य लिखे गए जिनका कभी प्रस्तुतीकरण नहीं किया गया और संभवत: वे प्रस्तुतीकरण के योग्य भी नहीं है परन्तु वे कवितात्मक भी हो सकते हैं और उनमें अन्य गुण भी हो सकते हैं जो उसे जीवंत रखते हैं। परन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे

मंचीय संस्कृति के भाग नही ं हैं। मंचीय कला में लिखा नाट्य उसी प्रकार का होता है जैसे फिल्म कला में लिखी कहानी (Script) का।

इसमें कोई संशय नहीं कि यह नाट्य को आधार, संरचना या ढांचा, और विषय-वस्तु प्रदान करता है। परन्तु इसके अतिरिक्त कई अन्य लोग भी शामिल होते हैं जो किसी नाट्य के मंचीय प्रस्तुतीकरण में सहायक होते हैं। इसमें अभिनेता, अभिनेत्री, निर्माता आदि शामिल होते हैं। साथ ही इसमें प्रस्तुतीकरण संबंधी व्यवस्था, प्रकाशीय प्रभाव (Lighting Effects), वेश-भूषा एवं रूप-सज्जा भी अभिनेता, अभिनेत्री ही निर्माता आदि के तुल्य ही वांछनीय हैं। साथ ही अधिकतर प्रकरणों में इसमें संगीत का भी समावेश होता है। मंचीय कला एक प्रकार की 'मिश्रित' कला है। इसे कलाकारों और तकनीकी विशेषज्ञों के आपसी सहयोग का भी परिणाम माना जाता है।

3.4.2 शास्त्रीय रंगमंच

प्राचीन काल के हिन्दुओं ने मंचीय कला को एक उच्च स्तरीय कला के रूप में देखा। नाट्य कला जिसमें नृत्य भी शामिल था उसका विकास चार वेदों से किया गया। इसमें शब्द ऋग्वेद से, अभिनय एवं दृष्य संबंधी प्रस्तुतीकरण यजुर्वेद से, संगीत सामवेद से और 'रस' अथर्ववेद से लिया गया। इस प्रकार कला को प्रशंसात्मक रूप में जीवन के प्रमुख चार लक्ष्यों को पूर्ण करने का माध्यम माना गया। इसके अतिरिक्त कला को प्रसिद्धि, आत्म-विश्वास, और लोगों और वस्तुओं को व्यवस्थित करने के गुण की वृद्धि के रूप में भी देखा गया। मंचीय कला की व्याख्या एक ऐसी कला के रूप में भी की गई जो मनुष्य में दयालुता के भाव जाग्रत करती है तथा साहस, सौम्यता और लक्ष्य-पूर्ति के प्रति तत्परता का भी संवर्धन करती है। कला को एक ऐसी औषधि माना गया जो दर्द, दुख, निराशा एवं मानसिक संकीर्णता का निवारण करती है। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के आरंभिक अध्याय में ड्रामा या नाट्य का ब्रह्म द्वारा वर्णित चरित्र निम्नलिखित प्रकार से है- जो यह दर्शाता है कि प्राचीन काल के हिन्दू नाट्य कला के विकसित और समुचित रूप से अवगत थे। 'नाट्य तीनों लोकों की अवस्था का प्रतिनिधित्वकरण है। इसमें विविध विषयों को प्रदर्शित किया जाता है जिसमें विभिन्न प्रकरणों पर विभिन्न विषयों की प्रमुखता होती है जैसे कर्तव्य-बोध, प्रसिद्धि, शांति, हास्य-विनोद, युद्ध, प्रेम संबंधी प्रकरण, और हत्या आदि।

यह ऐसी कला है जो कर्तव्यपरायणों को और अधिक कर्तव्योन्मुख, प्रेमियों को और उत्तेजित, कर्तव्यविमुखों और असंस्कृतों को अधिक व्यवस्थित करती है। यह ऐसी कला है जो लोगों में नियमनिष्ठता तथा भयभीत लोगों में निडरता का संचार करती है। यह निर्भीकों को ऊर्जा, बुद्धिहीनों को ज्ञान तथा शिक्षितों को और सद्बुद्धि प्रदान करती है। नाट्य, जैसे मैंने लिखा है, कार्यों का और लोगों के आचार का प्रस्तुतीकरण है जो विभिन्न भावनाओं में संपन्न है तथा जो विभिन्न स्थितियों को प्रस्तुत करती है। यह कला अच्छे और बुरे लोगों के कार्यों का वणर्न करती है तथा यह लोगों में साहस, मनोविनोद और प्रसन्नता का सूत्रपात करती है तथा साथ ही लोगों के लिए यह नैतिक संदेश का भी माध्यम है। इस प्रकार नाट्य एक प्रकार का शिक्षण का माध्यम है जिसे इसके अनेक प्रकार के प्रस्तुतीकरण द्वारा लोगों तक पहुँचाया जाता है। यह भाग्यहीनों को सांत्वना प्रदान करती है जो दुखों और अत्यधिक कार्यों से त्रस्त हैं परन्तु कर्तव्यपरायण, प्रसिद्ध, चिरायु, बुद्धिमान होना चाहते हैं। नाट्य या ड्रामा ऐसी कला है जिसमें जीवन संबंधी सभी रूप विद्यमान रहते हैं। अतः मैंने ड्रामा का निर्माण किया जिसमें मानव संबंधी समस्त जीवन मूल्यों का समावेश है।"

जहाँ छठी शताब्दी ई०पू० में यूनान में ड्रामा का विकास मिस्र से लाये गए डियोनिसिस (क्पवदलेपने) के उत्सव के मनाये जाने से आरंभ हुआ उसी काल में भारतीय ड्रामा का भी विकास नृत्य, संगीत, संवाद आदि रूप में हुआ जो वैदिक ग्रंथों में पहले से ही मौजूद थे। इतिहासकारों का यह मत है कि भारतीय ड्रामा की उत्पति स्थानीय है तथा इसमें प्रस्तुत धार्मिक विश्वास और कर्मकांड की उत्पत्ति में भी स्थानीयता है। पांचवी शताब्दी ई०पू० में प्रसिद्ध व्याकरण शास्त्री पाणिनी अभिनेताओं से संबंधित दो लघु पुस्तकों (नटसूत्र) की बात करते हैं।

चौथी शताब्दी ई०पू० में मौर्य दरबार के मंत्री-कवि सुबंधु ने अपनी कृति 'वासवदत्तानाट्यधारा' में एक नये प्रकार के ड्रामा का प्रयोग किया। संस्कृत में व्यवस्थित ड्रामा का विकास इंद्र के असुरों पर विजय के उत्सव रूप में हुआ। इस ड्रामा से नाटकों का विकास हुआ जिसमें महाकाव्यों में वर्णित देवताओं को प्रस्तुत किया गया। कालांतर में ड्रामा में महाकाव्यों पर आधारित देव-पात्रों का स्थान ऐतिहासिक राजाओं ने ले लिया और इस प्रकार ड्रामा में वास्तविक राजाओं को पात्र बनाया जाने लगा। उदाहरण के लिए पांचवी-चौथी शताब्दी ई०पू० में राजा उद्यान के रोमांचक प्रसंगों का नाट्य रूपांतरण।

भास कालिदास से पहले के काल के प्रसिद्ध नाटककार थे। उन्होंने बड़ी प्रवीणता से प्रेम और बिछोह संबंधी प्रकरणों का नाट्य रूपांतरण किया तथा उन्हें राजनीतिक गतिविधियों से जोड़ा। उन्होंने कई एकांकी नाटक भी लिखे। प्राचीन काल में नाट्यकला के अंतर्गत कई रूपों का विकास किया गया। रंगमंचीय संस्कृति ने समकालीन समाज की गणिकाओं, विदुषकों आदि का चित्रण किया। साथ ही नाटकों द्वारा भाग्य, विश्वास और ज्ञान आदि तत्त्वों को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया। जहाँ नायक-आधारित नाटक लोगों के लिए पौराणिक और महाकाव्यों के राजाओं के आदर्श प्रस्तुत करते थे वहीं सामाजिक नाट्क (प्रकरण) समाज के उच्च वर्ग के लोगों के आडंबर और निम्न वर्ग के लोगों के व्यसन का प्रस्तुतिकरण थे। भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' (दूसरी शताब्दी ई०पू० - दूसरी शताब्दी ईस्वी) शास्त्रीय रंगमंच की पूर्ण और संपन्न तस्वीर प्रस्तुत करता है। इस रचना में दस प्रकार के नाटक, तीन प्रकार के नाट्यधर, विविध नाटक, इसमें व्यक्त भावनाएं और सौंदर्यपरक कथन, अभिनय, रूप-सज्जा, निर्माण, दर्शकों के गुण, संगीत आदि शामिल हैं। नाट्यशास्त्र प्राचीन संसार में नाटकों पर लिखी गई सभी रचनाओं में सबसे विस्तृत प्रबंध है।

शास्त्रीय रंगमंच में महान तिकड़ी कालिदास, शुद्रक और भावभूति का योगदान सर्वविदित है। इसी संदर्भ में विशाखदत्त एक अन्य उल्लेखनीय नाम है। विशाखदत्त की कुशलता राजनीति संबंधी प्रकरणों को सशक्त रूप में व्यक्त करने में है। इसी प्रकार प्रसिद्ध नाटककारों में राजा हर्ष का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने 'नागानंद' लिखी। एक अन्य प्रसिद्ध राजा राजशेखर ने शुद्ध प्राकृत भाषा में 'करपुरामंजरी' की रचना की। 9वीं और 10वीं शताब्दी में नाटकों के कई अनियमित और लघु रूपों का भी विकास हुआ। साहित्यों में इस प्रकार के लगभग पंद्रह रूपों का वणर्न मिलता है जिसे 'उपरूपक' कहा जाता है। इन 'उपरूपकों' का वर्णन नाट्यशास्त्र में मिलता है जो नाटककारों की काल्पनिक और प्रयोगात्मक प्रवीणता को सिद्ध करता है।

यद्यपि शास्त्रीय नाटकों और शास्त्रीय ड्रामा के कुछ रूपों के विषय आज उतने लोकप्रिय नहीं हैं जितना वे एक समय में थे फिर भी नाट्य कला में निहित क्लासिकल विचार, नाटकों में भावों और चरित्रों को प्रस्तुत करने की तकनीक, इसका मंचीय प्रस्तुतिकरण आज भी नाटककारों, निर्माताओं और आलोचकों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। इसका मुख्य कारण शास्त्रीय नाटकों की मूलभूत महत्वत्ता और अनिवार्य

सौंदर्यपरक गुण है। भरतमुनि ने ड्रामा की व्याख्या 'दृश्य' और 'श्रव्य' दोनों रूपों में की जिसे देखा और सुना जा सकता था।

यदि संस्कृत ड्रामा की शुरूआत देखें तो इसका आरंभ एक प्रस्तावना से होता है जिसमें प्रबंधक और सहायक वार्तालाप करते हैं तथा कवि और नाटक का परिचय देते हैं। विषयों को विभिन्न अभिनय रूपों में व्यवस्थित किया जाता है जिसे 'अंक' कहते है। इन 'अंकों' की संख्या चार से दस तक होती है। किसी 'अंक' में दृश्य परिवर्तन भी हो सकता है परन्तु एक 'अंक' में कोई भी दृश्य संबंधी विभाजन नहीं प्रदर्शित किया जाता। 'अंकों' में प्रस्तुतीकरण में निरंतरता रहती है परन्तु इसकी अवधि एक दिन से अधिक की नहीं होती। 'अंकों' में उच्च और निम्न पात्रों का परिचय संबंधी दृश्य भी हो सकता है। इसका उद्देश्य कहानी में निरंतरता बनाये रखना तथा दर्शकों को कहानी, संवाद, रिपोतार्ज द्वारा ऐसी घटनाओं के बारे में बताना है जिसे मुख्य कहानी के मंचीयकरण में नहीं दिखलाया जा सकता। इस प्रकार के नाट्य प्रस्तुतीकरण में कोई भी चरित्र बिना किसी पूर्व उद्घोषणा के मंच पर नहीं आ सकता। नाटक के विषयवस्तु दोनों गद्य और पद्य शैली में होते हैं तथा पदों का प्रयोग ऐसे क्षणों में किया जाता है जहाँ भावों को अत्यंत तीक्ष्णता और सक्षमता से दर्शाना होता है। जिस प्रकार गद्य और पद्य का नाट्य प्रस्तुतीकरण में मिश्रण रहता है उसी प्रकार इसमें सुसंस्कृत और लोकप्रिय बोलियों का भी समावेश होता है। नाटक में उच्च वर्ग के शिक्षित पुरुष पात्र संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं तथा निम्न वर्ग के लोग, स्त्रियाँ प्राकृत भाषा बोलती हैं। कई बार यह प्राकृत भाषा भिन्न प्रकार की होती है जो निम्नवर्गीय पात्रों की संख्या और स्वभाव पर निर्भर करती है। नाटक में प्रदर्शित कहानी छोटी अवधि की भी हो सकती है या ऐसी जिसका काल कई वर्षों का है। इस प्रकार अवधि के अनुसार नाटक विशेष स्थान पर या भिन्न-भिन्न स्थानों पर आयोजित किए जाते हैं। नाटक के विषयवस्तु या प्रसंग या तो प्रसिद्ध महाकाव्यों से लिए जाते हैं या फिर वे रचे जाते हैं या प्रसंग इन दोनों रूपों के मिश्रण होते हैं। यद्यपि दर्शक लोकप्रिय कहानियों से अवगत होते हैं परन्तु नाटककार अपने विचारों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनमें परिवर्तन ला सकता है। वैसे भी संस्कृत ड्रामा का प्रयास दर्शकगणों के हृदय में सुसंगत चरित्र और सदभावनापूर्ण भावना आदि को जाग्रत करना होता है। ऐसा माना जाता था कि नाटकों का अंत सुखद होना चाहिए।

प्राचीन और प्रमुख प्रकार के ड्रामा जिन्हें 'रूपक' कहा जाता था ने कालांतर में अन्य प्रकार के साधारण नाटकों को भी अपने में समाहित किया जिन्हें 'उपरूपक' कहा गया। इन साधारण नाटकों में मुख्य रूप से नृत्यनाटिका भी शामिल थी। इन 'उपरूपकों' ने कला को क्षेत्रीय नृत्यनाटिका रूप में विकसित किया जिसका प्रदर्शन संस्कृत या शुद्ध क्षेत्रीय भाषा में किया जाने लगा। उदाहरण के लिए 'अंकिया नट', 'यात्रा', 'यक्षगान', 'भागवत नाटक', 'कृष्णअट्टम्' और 'कथकली'। इस प्रकार इन 'उपरूपकों' ने स्थानीय रंगमंच की परंपरा और विशिष्टता को संरक्षित किया। साथ ही इन 'उपरूपक' ने आधुनिक काल के समस्त नाटककारों को भारतीय रंगमंच को वास्तविक रूप में पुन:स्थापित करने हेतु सामग्री, पद्धति और साधन उपलब्ध करवाया। यह प्रक्रिया रंगमंच से संबंधित अन्य परंपरा से भिन्न थी जिसमें नाटककार विदेशी नाटकों और रुझानों से प्रेरणा लेने में अपनी समस्त ऊर्जा व्यर्थ कर देते थे।

3.4.3 प्राचीन दक्षिण भारतीय रंगमंच

प्राचीन दक्षिण भारतीय रंगमंच का विवरण 'शिल्पादिकारम' की 'अरांगेरु कादाई' और अतियारकु-नल्लार द्वारा लिखे गए टीका मे मिलता है। इसके अतिरिक्त रंगमंच पर महाकाव्य में लगभग एक दर्जन पंक्तियाँ हैं तथा इस पर लिखा गया टीका बीस पृष्ठों से भी अधिक में विद्यमान है। अन्य कई रचनाएँ जैसे 'अगाथ्यम्', 'भरतम', 'मुरुवल', 'जयंथम', 'गुणा नल', 'सेईरीयम', और 'कुट्टु नल' उपलब्ध थीं। यह स्पष्ट है कि तमिल में प्राचीन रंगमंच पर बड़ी संख्या में रचनाएँ लिखी गईं जिसने ड्रामा के व्याकरण पर प्रबंध लिखने के लिए प्रेरित किया। तमिल ड्रामा की स्वतत्रं उत्पत्ति इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाती है कि इसमें ड्रामा का तीन शास्त्रीय रूपों - 'इयाल', 'इसाई', और 'नाटकम' - में विभाजन किया गया।

प्राचीन तमिलनाडु में 'नाटकम' नृत्य या 'कुट्टु' का उपरूप था। नृत्य की संस्था को और शुद्ध बनाया गया तथा इसे दो प्रमुख श्रेणियों में रखा गया जिसे 'शांति कुट्टु' (समाज के प्रबुद्ध समुदाय हेतु) और 'विनोद कुट्टु' (पिछड़े वर्ग हेतु) कहा गया। 'शांतिकुट्टु' में अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त 'अभिनयम' और 'नाटकम' को अंगीकार किया गया (उदाहरण के लिए कथकली)। 'शिल्पादिकारम' में कलाकार के गुणों में न केवल संगीत और नृत्य में तन्मयता और प्रवीणता को स्थान दिया गया बल्कि अच्छे कुल में जन्म को भी गुणरूप में शामिल किया गया। हालांकि यह उल्लेखनीय है कि प्रारंभिक तमिल कृतियाँ यह दर्शाती हैं कि नर्तकियों और वेश्याओं को 'मारुथम' की सामाजिक संस्था में स्वीकृति प्राप्त थी। 'मारुथम' खेतिहर, धन-संपदा और ऐश्वर्य का क्षेत्र माना जाता था। 'विनोदकुट्टु' की विभिन्न श्रेणियों में 'कुरावाई', 'थोलपावाई', 'विदुषक कुट्टु' और 'वेरियाट्टु' उल्लेखनीय हैं। तमिलनाडु और केरला में व्याप्त विभिन्न प्रकार के ड्रामा को उपर्युक्त पृष्ठभूमि के अंतर्गत समझा जा सकता है।

ड्रामा प्रस्तुतीकरण को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - (1) देशज या देशी (कुट्टु, अट्टम आदि) उस प्रकार के ड्रामा हैं जिनका प्रस्तुतीकरण मंदिरों और सार्वजनिक स्थानों पर होता था, (2) आयातित (यात्रा), (3) घृणित और प्रायश्चित्तिक नृत्य जैसे अग्नि-नृत्य, भद्रकाली नृत्य आदि।

'यात्रा' नामक नाट्य केवल ब्राह्मणों में ही प्रचलित था तथा इसमें अभिनय करने वाले कलाकार केवल ब्राह्मण होने चाहिए थे। 'यात्रा' से संबंधित प्रदशर्न पवित्र समझे जाते थे तथा ये प्रायः मंदिरों में आयोजित होते थे। ऐसा माना जाता है कि प्रस्तुीकरण के विषयवस्तु आयातित हुआ करते थे। इनमें कार्य करने वाले कलाकारों को 'भरत' कहा जाता था तथा नाट्यों को कभी-कभी 'भरतनाट्यम्' के नाम से भी जाना जाता था। इसे 'साक्कियार कुट्टु' भी कहा जाता था। साक्कियार संस्कृत शब्द 'स्लाग्य' का मलयाली विकृत रूप है जिसका अर्थ है प्रख्यात या उत्तम। कुछ लोग इसे बौद्ध संप्रदाय से संबंधित शब्द मानते थे जिसे बौद्ध नाटक 'नागानंद' से उत्पन्न हुआ माना जाता था।

3.4.4 लोक मंच

संस्कृत नाटकों का अवसान लगभग 10वीं शताब्दी ईस्वी के आसपास होने लगा। इसका कारण यह था कि इस काल तक संस्कृत आम लोगों की भाषा नहीं रह गई थी। विभिन्न क्षेत्रों में यह विकसित बोलियों के रूप में उभरी जिसे 'अपभ्रंश' कहा गया। यह अपभ्रंश लगभग 15वीं शताब्दी में ऐसे रूप में उभरी जिसे आधुनिक इंडो-आर्यन भाषा कहा गया। आम लोगों की इस भाषा में साहित्य की रचना आरंभ में शुरु नहीं हुई और इसमें पहली साहित्यिक रचना की शुरूआत लगभग 12वीं शताब्दी ईस्वी के आसपास हुई। वहीं दक्षिण

भारतीय भाषाएँ जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से प्रभावित थी का अपना साहित्य 9वीं शताब्दी ईस्वी में ही स्थापित हो गया था। अत: यह स्पष्ट है कि 9वीं से 16वीं शताब्दी में नाटकों की रचना नहीं हुई। परंतु लिखित नाटकों की अनुपस्थिति का अर्थ रंगमंच की अनुपस्थिति से नहीं लगाया जाना चाहिए।

कालांतर में तथा नाट्यशास्त्र के प्रभाव में मंचीय कलाकारों ने स्वयं को एक अलग जाति में विकसित कर लिया जिसे 'चारण' कहा गया। ये 'चारण' महाकाव्यों के काल के भाटों 'सुता' के वंशज कहे जा सकते हैं। ये 'चारण' पारंपरिक कहानियाँ आदि सुनाते थे तथा इन्हें राजाओं और कुलीनों का संरक्षण भी प्राप्त था। इस संरक्षण ने उनके रंगपटल में अधिवृद्धि की। हम देखते हैं कि इन 'चारणों' ने अब पारंपरिक वीररस-प्रधान कविताओं के अलावा अपने संरक्षकों और उनके पूर्वजों की गौरवगाथा गाना भी प्रारंभ कर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजकीय संरक्षण ने भारतीय रंगमंच के नवीनीकरण को प्रोत्साहित किया (इस संदर्भ में बंगाल के शासक लक्ष्मण सेन और जोधपुर के राजा का उदाहरण दिया जा सकता है) ।

भक्ति आंदोलन (शैव और वैष्णव) के उत्थान ने रंगमंच को दो रूपों में प्रभावित किया। प्रथम इसने देश के विभिन्न क्षेत्रों के राजाओं को मंदिर निर्माण के लिए प्रेरित किया। मंदिरों की संख्या में वृद्धि का अर्थ 'नाट्य-शालाओं' की संख्या में वृद्धि तथा नृत्य-नाटिका को प्रत्यक्ष प्रोत्साहन देना था।

कई स्थानों में नर्तकों और 'सूत्रधारों' को ये मंदिर सौपे गए। नृत्य और नाटकों को मंदिर में आयोजित करवाना इन कलाकारों का कर्तव्य था। इस काल की प्रत्येक स्थापत्य कला में भी नाट्य कला के प्रति रुझान देखा जा सकता है। कई अवसरों पर राजा स्वयं नृत्य-नाटिकाओं के रचयिता होते थे। 'चारण' संस्थान ने ऐसे कलाकारों का उत्थान किया जो भिन्न-भिन्न स्थानों पर धूम कर कला प्रदर्शन किया करते थे। इस प्रकार अपने देवताओं के प्रति श्रद्धा भी प्रकट किया करते थे।

अब नाट्य प्रस्तुतीकरण ऐसी भाषा में किया जाता था जिसे समस्त जन समझ सकें। भक्त या संतों ने अपने गीत गाये जिसके द्वारा उन्होंने अपना ज्ञान और अनुभव लोगों तक प्रत्यक्ष और स्वभाविक रूप में फैलाया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अधिकतर भारतीय भाषाओं में साहित्य लेखन की शुरुआत इन संतों के गीतों और वाणियों से देखी जा सकती है। ये भक्त न केवल गीत गा सकते थे बल्कि हर्षोन्माद में नृत्य भी कर सकते थे। उनकी लोकप्रियता में वृद्धि ने उनके नृत्यों और गीतों को सामुदायिक-गीत और नृत्य रूप में परिवर्तित किया।

ये संत मुख्य रूप से देवों के जीवन और कार्यों को गीतबद्ध रूप में प्रस्तुत करते थे। 'भागवत' काव्य, जो कृष्ण के जीवन से संबंधित है, लोगों के लिए सबसे प्रमुख प्रेरणास्रोत रहा। संत और देव या ईश्वर के बीच कोई बिचौलिया नहीं था। यह एक ऐसा तथ्य था जिसके अंतर्गत गीतों को संवाद रूप में निरूपित किया गया। उदाहरण के लिए जयदेव की 'गीत-गोविंद' में राधा (वैयक्तिक आत्मन् की प्रतिनिधि) और कृष्ण (संसार का स्वामी) के वार्तालाप को संवादरूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार भारत के लोक रंगमंच को इस पृष्ठभूमि के अंतर्गत समझा जा सकता है।

3.4.5 नये रंगमंच की तलाश

जानकारी हेतु यह एक रोचक तथ्य है कि मुगल साम्राज्य का पतन और आधुनिक रंगमंच का प्रादुर्भाव लगभग एक साथ ही हुआ। 18वीं शताब्दी तक लोक-साहित्य बिना किसी नये कालिदास या भावभूति के भी सक्रिय और फलता-फूलता रहा। शिक्षित वर्ग एक प्रगतिशील वर्ग था जिसने संस्कृत का प्रयोग कर दर्शनशास्त्र

की विभिन्न शाखाएँ स्थापित कीं। राजाओं के दरबार में कवियों और लेखकों को उनके संस्कृत और क्षेत्रीय भाषाओं दोनों के ज्ञान के लिए और भी सम्मान दिया जाता था। समाज के उच्च स्तर का वर्ग राजनीतिक गतिविधियों में इस सीमा तक व्यस्त था कि उनके पास कला के प्रति रुचि व्यक्त करने का कोई समय नहीं था। ऐसी स्थिति में एक 'सायनाचार्य' जो वैदिक संकलनों पर टीका लिखता था किसी कालिदास की अपेक्षा आसानी से उपलब्ध था। ऐसी स्थति विजयनगर साम्राज्य के काल तक देखी जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक रंगमंच जिसका उत्थान और लोकप्रियता भक्ति आंदोलन की शिक्षाओं के कारण हुई ने रंगमचं को केवल 'निम्न' वर्ग के लोगों के ही समय व्यतीत करने के माध्यम के रूप में स्थपित किया। कन्नड़ में 1896 में एक सेना अधिकारी सिंगारया द्वारा लिखा गया 'मित्रविंद-गोविंद' ऐसे नाटकों में से एक है जो उस काल में उपलब्ध थे। इसके अतिरिक्त कई पुराने नाटकों का राजाओं के संरक्षण में अनुवाद और रूपांतरण करवाया गया। भारत जैसे देश में किसी भी व्यक्ति का समाज में जीवन उसकी गति से पृथक नहीं था। ब्रिटिश शासन ने दो नई जातियों को जन्म दिया, एक उच्च 'मलेच्छ' जो शासक वर्ग का माना जाता था तथा दूसरी जाति नये शिक्षित भारतीयों की थी जिनमें उच्च मलेच्छों के प्रति डर और खुशामद, नफ़रत और प्रशंसा तथा आज्ञाकारिता मौजूद थी। आधुनिक भारतीय रंगमंच का जन्म इन्हीं दो जातियों के आपसी द्वंद्व या संघर्ष से हुआ।

3.4.6 बंगाल एवं अन्य स्थानों का रंगमंच

भारत के किसी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा ब्रिटिश बंगाल में सबसे पहले बसे। अत: भारतीयों के नये शिक्षित वर्ग का उदय सर्वप्रथम बंगाल में हुआ। अपने मनोरंजन के लिए ब्रिटिश लोगों को 'घरेलु' कार्यक्रमों पर निर्भर रहना पड़ता था। इसी प्रक्रार रंगमचं के क्षेत्र में भी हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि या तो वे अंग्रेजी नाटकों का मंचीयकरण करते थे या 'घरेलु' या 'देशी' कार्यक्रमों को आयोजित किया जाता था। इस पृष्ठभूमि के अंतर्गत हम दो विभूतियों का उल्लेख कर सकते हैं, हेरासिम लेबदेफ (रुसी जाँबाज) और गोलोकनाथ दॉस जिहोंने दो व्यग्यात्मक नाटकों 'डिसगाईज़' (Disguise) और 'लव इज़ द बेस्ट डॉक्टर' (Love is the Best Doctor) का 7 नवम्बर 1795 में अनुवादन एवं मंचीयकरण किया। इसके उपरांत आगे के 50 वर्षों में आधुनिक रंगमंच की स्थापना में महत्त्वपूर्ण उत्सर्ग देखे गए। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा दृष्टिकोण में हुए और हो रहे परिवतर्न ने प्रथम बंगाली रंगमंच की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। प्रथम बंगाली रंगमंच 1831 में प्रसन्न कुमार टैगोर द्वारा स्थापित किया गया। इसमें अंग्रेज़ी नाटकों को भारतीयों द्वारा लिखा गया। 'उत्तर-रामचरित' के अंग्रेज़ी अनुवाद का भी मंचीयकरण किया गया। यह स्वाभाविक है जब दर्शकों के नये वर्ग का उदय होता है तो नये रंगमंच की खोज भी आरंभ हो जाती है। ऐसी ही गतिविधियाँ महाराष्ट्र के संघी नामक स्थान में हो रहीं थीं। यहाँ 'दशावतार' (यक्षगान) नामक नाटक का मंचीयकरण किया गया। एक विष्णुदास नामक कलाकार ने 1843 में एक पौराणिक नाटक की रचना की जिसे 'सीतास्वयंवर' कहा गया। यह 'दशावतार' नामक नाटक का प्रस्तुतीकरण था जिसने मराठी रंगमंच की नींव रखी तथा जो 1925 तक अपने गौरव के चरम शिखर पर पहुँच गया।

इन नाटकों में विदुषकों को प्राप्त विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और राक्षसों की सज्जा 'यक्षगान' नामक नाटकों के प्रभाव को दर्शाती है।

यह उल्लेखनीय है कि परंपरा और आधुनिकता दोनों को रंगमंचीय संस्कृति में मिश्रित करने के प्रयास किए गए। बंगाल में लेबदेफ थियटर ने उचित नाटकों के प्रति नये दर्शकों में इच्छा जाग्रत की। शेक्सपीयर की 'जूलियस सीज़र' (Julius Caesar) और 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' (Merchant of Venice) का बंगाली प्रस्तुतीकरण किया गया। इसके अतिरिक्त उत्तम अंगेज़ी रचनाओं ने लोगों में हमारी रंगमंचीय परंपरा के प्रति भी सम्मान जगाया।

प्रथम नाटक जो समाज सुधार से संबद्ध था 1854 में राम नारायण तारक रत्न द्वारा लिखा गया 'कुलिन-कुल-सर्वस्व' था जिसमें बहुविवाह-प्रथा की समस्याओं को उजागर किया गया। इसी प्रकार 1853 में 'इंदर सभा' नामक नाटक का प्रस्तुतीकरण किया गया। इसी वर्ष फारसी नाटक मंडली की स्थापना की गई। 1857 के विद्रोह ने भारतीय रंगमंच को प्रोत्साहित किया। बंगाल और महाराष्ट्र, ऐसे दो क्षेत्र जो 1857 विद्रोह में सर्वाधिक सक्रिय थे, ने भारतीय रंगमंच को नेतृत्व प्रदान किया। 1872 ईस्वी में कोलकाता में राष्ट्रीय रंगमंच (National Theatre) की स्थापना की गई। विष्णु दास भावे बॉम्बे में सक्रिय थे। विनायक जनार्दन कीर्ताने ने 1857 विषय पर कई नाटक लिखे। इसी शृंखला में दीनबंधु मित्रा ने 'नील-दर्पण' लिखा। यह सक्रियता दर्शाती है कि नाटककारों का ऐसा वर्ग अस्तित्त्व में आ चुका था जो नाटकों को सामाजिक परिस्थितियों का दर्पण समझता था। 1857 से 1870 के अंतराल में न केवल कई नाटक लिखे गए बल्कि नाटकों का अधिक से अधिक मंचीयकरण भी किया गया। इस संदर्भ में माईकल मधुसूदन दत्त का नाम उल्लेखनीय है।

3.4.7 व्यावसायिक रंगमंच

बॉम्बे एक वाणिज्यिक केन्द्र है, पारसी एक वाणिज्यिक समुदाय है तथा व्यावसायिक रंगमंच एक वाणिज्यिक प्रयास है। सांगली प्रोडक्शन ने नाटकों के अनेक प्रस्तुतीकरण को प्रोत्साहित किया। इसने कलाकारों के समुदाय को संरक्षण दिया तथा पूना तथा बॉम्बे जैसे शहरों में नाटकों का मंचीयकरण किया। विष्णु दास भावे ने बॉम्बे में एक नाटकगृह को किराये पर दिया और इस प्रकार धन एकत्रित किया। उनके प्रथम हिंदी नाटक 'राजा गोपीचंद' के एक रात्रि के प्रस्तुतीकरण से ही 1800 रु० की आमदनी हुई जो एक रिकार्ड था। इस प्रकार की अच्छी आमदनी ने रंगमंच में व्यावसायिक प्रयासों को प्रेरित किया। व्यावसायीकरण का प्रभाव यह हुआ कि 10 वर्षों के अंतराल में महाराष्ट्र में लगभग एक दजर्न समूहों का आविर्भाव हुआ। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ये अभी भी नाटक कंपनियों के रूप में स्थापित नहीं हुई थी। परंतु शहरों में नाटकगृहों के निर्माण तथा एक निश्चित दशर्क वर्ग के उदय से परिस्थितियों में बदलाव आया। अब नाटकों को नियमित रूप में व्यवस्थित किया जाने लगा। 1850 के दशक तक कई पारसी कंपनियों की भी स्थापना की गई।

इन्होंने अपनी कंपनियों का प्रचार दक्षिण भारत में भी किया। कर्नाटक के गडग नामक स्थान में 1877 में पहली व्यावसायिक मंडली या टोली की स्थापना हुई। इसी प्रकार कर्नाटक के ही बेलारी में सारस विनोदिनी सभा और सुमनोरमा सभा अस्तित्त्व में आईं। दक्षिण भारत में मुख्यत: पौराणिक विषयों पर नाटक लिखे गए। इस प्रकार 19वीं शताब्दी के अंत तक लगभग संपूर्ण भारत में व्यावसायिक थियटर का पदार्पण हो चुका था।

3.4.8 शहरी रंगमंच

साधारणत: ऐसा माना जाता है कि नाटकों के पतन के कारणों में भारतीय फिल्मों का आगमन एक था। नाटकगृहों का सिनेमा हॉल में परिवर्तन मंचीय कलाकारों का फिल्मों में जाना तथा नाटक लेखकों का फिल्मों के लिए कथा-लेखन ड्रामा के पतन के मुख्य कारण बताये जाते हैं। इसके अतिरिक्त नई शिक्षा से नये दृष्टिकोण का विकास हुआ। शिक्षित भारतीय लोगों की एक बड़ी संख्या अंग्रेज़ी नाटकों पर मोहित थी। इन्होंने स्कूल और कॉलेजों में संस्कृत नाटकों की अपेक्षा अंग्रेज़ी नाटकों का अध्ययन किया था। परंतु 19वीं शताब्दी के आखिरी दो दशकों में हम पाते हैं कि शेक्सपीयर के नाटकों के अतिरिक्त कालिदास, भवभूति, हर्ष और भट्टनारायण के नाटकों का भी अनुवाद किया गया। साथ ही समाज-प्रधान नाटकों की भी रचना की गई। उदाहरण के लिए मराठी में 'संगीत शारदा' की रचना की गई। रवींद्र नाथ टैगोर के नाटक शहरी रंगमंच के विशिष्ट उदाहरण हैं। उनकी कृतियों में 'वाल्मीकि प्रतिभा' (1881), 'रक्तकराबी' (1924), 'मुक्त धारा', 'नालिर पूजा', और 'तासेर देश' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यह स्पष्ट है कि टैगोर ऐसे ड्रामा रूप को विकसित करना चाहते थे जो इसके उद्देश्य के लिए उचित हो। उनके काव्यात्मक नाटक हमें पारंपरिक संस्कृत नाटकों की याद दिलाते हैं।

उनके प्रतीकात्मक नाटक उस काल में शेक्सपीयर के नाटकों के मंचीयकरण के उद्देश्यों के विरोध में थे। उन्हें मंचीय निर्देशन का ज्ञान आदि नहीं था परंतु उनकी विशिष्टता उनकी लेखनी में थी जिसके अनुसार वास्तविक ड्रामा लेखन की काव्यात्मक शैली में निहित माना जाता था। क्योंकि उनका प्रस्तुतीकरण अधिकतर जीवन संबंधी मूल्यों के प्रस्तुतीकरण से था अत: उन्होंने नृत्य-नाटिका में भी प्रयोग किये।

नाटक संस्कृति में वास्तविकता के प्रथम अंश 1920 के दशक में शिशिर कुमार भादुरी, नरेश मित्रा, अहिंद्र चौधरी, और दुर्गा दास बनर्जी द्वारा आरंभ किए गए। प्रोभा देवी और कनकवती दो प्रतिभावान अभिनेत्रियाँ थीं। शिशिर कुमार भादुरी ने लगभग पचास वर्षों तक बंगाली मंच पर अपना दबदबा बनाय रखा तथा उन्होंने अभिनय कला को नई ऊंचाईयों तक पहुँचाया। किसी अन्य कलाकार की अपेक्षा ये शिशिर कुमारी भादुरी ही थे जिन्होंने भारतीय मंचीय प्रस्तुतीकरण के क्षेत्र में औपचारिक अलंकारिक अभिनय में संक्रमण लाकर इसे आधुनिक वास्तविकता प्रधान अभिनय का रूप प्रदान किया।

जनमानस में राजनीतिक चेतना के विकास से 1930 के दशक से रंगमंच संस्कृति में 'प्रगतिवादी' या वामपंथी प्रवृत्ति का उदय हुआ। 'प्रगतिवादी' विचारों ने साहित्य और ड्रामा दोनों को प्रभावित किया। साम्राज्यवाद में अन्य विचारधाराएँ जैसे फासीवाद और नाज़ीवाद को भी जोड़ दिया गया। जब द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ हुआ कुछ प्रगतिवादी लेखक राष्ट्रवादी थे। अन्य शब्दों में वे भारत की स्वतंत्रता चाहते थे। उन्होंने प्च्ब। को संगठित किया। इसमें ख्वाज़ा अहमद अब्बास और मन्मनाथ रे जैसे लेखक शामिल थे तथा इसने अभिनेता-निर्माता जैसे सोंभु मित्रा को अवसर और प्रोत्साहन प्रदान किया। इस संस्था ने नये नाटककारों, अभिनेताओं, विषयों एवं एक सक्रिय रंगमंच को प्रस्तुत किया। इसी प्रकार कमलादेवी चट्टोपध्याय के नेतृत्व में इंडियन नेशनल थियेटर (Indian National Theatre, INT) अस्तित्त्व में आया। इसमें भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की वामपंथी शाखा के समाजवादी विचारों को अधिक प्राथमिकता दी गई। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ये भी राष्ट्रवादी थे। महत्त्वपूर्ण यह है कि प्छज् का प्रथाम प्रस्तुतीकरण एक नृत्य-नाटक था जो नेहरू की रचना 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' (The Discovery of India) पर आधारित था। INT एक अखिल भारतीय संस्था है जिसकी शाखाएँ पूरे भारत में फैली हुई हैं।

3.4.9 उपसंहार

कविता और नाटकों द्वारा मनुष्य स्वयं को स्वयं के समक्ष प्रकट करता है। इसके द्वारा वह अपनी आत्मा, इच्छा, प्रवृत्ति, आशा, सपना तथा सफलताओं एवं असफलताओं को प्रदर्शित करता है जो उसके इस सांसारिक जीवन के संघर्ष के सहायक तत्त्व होते हैं। काव्य दो प्रकार का होता है - 'श्रव्य' और 'दृश्य'। 'दृश्य' को 'नाटक' या ड्रामा कहा जाता है। नाटककार अपनी कला, विविधता, संगीत तथा मनोदशा को व्यक्त करने की प्रवीणता से आनंदित करता है। नाटककार अपनी कला अभिव्यक्ति से मानव के उत्थान और पतन को प्रस्तुत करता है। वह हमारे हृदय में अच्छाई के लिए सहानुभूति और बुराई के लिए नफ़रत की भावना का संचार करता है। वह हमारी भावनाओं को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करता है और अपने विचारों को अप्रत्यक्ष तरीके से प्रेषित करता है।

अभ्यास-4

(अ) रिक्त स्थानों की पूर्ति करो:

(i) वासवदत्तानाट्यधारा नामक ड्रामा ..... द्वारा लिखा गया।

(ii) भरत ड्रामा का ..... और ..... रूप में वर्णन करते हैं जिसका अर्थ है देखा और सुन जा सकने वाला।

(iii) नाटकम प्राचीन तमिल नाडु में ..... का उप-भाग था।

(iv) ..... रंगमंच कलाकारों की एक अलग जाति थी जो नाट्यशास्त्र से प्रभावित थे।

(v) भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच (INT) की स्थापना ..... के नेतृत्व में हुई।

(ब) निम्न के लिए 'सही' या 'गलत' बताईये:

(i) हर्ष ने नागानंद की रचना की

(ii) भाष एक प्रसिद्ध नाटक लेखक थे जो कालिदास से पहले हुए।

(iii) दीनबंधु मित्र ने नील दर्पण लिखा।

(iv) संगीत का सर्वाधिक प्रारंभिक उल्लेख सामवेद में मिलता है।

(स) लघु प्रश्न:

1. कलासिकल रंगमंच के विशिष्ट लक्षणों को उजागर कीजिए।
2. प्राचीन दक्षिण भारतीय रंगमंच पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

(ड) दीर्घ प्रश्न:

1. प्राचीन भारत की रंगमंच संस्कृति का परीक्षण कीजिए।
2. चारण संस्था का विवरण दीजिए तथा लोक-रंगमंच में उनके योगदान का भी वर्णन कीजिए।
3. बंगाल रंगमंच के उत्थान और विकास की विवेचना कीजिए।

3.5 समापन

- संरक्षण पद्धति एवं सामाजिक-सांस्कृतिक वातवरण ने हिंदुस्तानी संगीत के विकास की पद्धति को प्रभावित किया।
- दक्षिण भारत में भक्ति संगीत कला का मौलिक और अभिन्न अंग हैं।

- विभिन्न नृत्य प्रकारों के उद्‌भव को उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक-आर्थिक और धार्मिक परिवर्तनों से जोड़ कर देखा जा सकता है।

रंगमंचीय कला एक संयुक्त कला है। यह कलाकार और तकनीक विशेषज्ञ के सामजस्य का रूप है।

संदर्भ सूची

1. आड्या रंगाचार्य, 'द इंडियन थियटर', एनबीटी, दिल्ली, 1971
2. हेमेंद्र नाथ दास गुप्ता, 'द इंडियन थियटर', ज्ञान पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1988
3. एम०एल० वरदपांडे एवं डॉ० सुनील सुबेदार (संपादित), 'द क्रिटीक ऑफ इंडियन थियटर', यूनीक पब्लिकेशन्स, 1981
4. फारले पी० रिचमंड, डेरियस एल० स्वॉन, एवं फिलिप बी. ज़ारीली (संपादित), 'इंडियन थियटर ट्रेडीशन्स ऑफ परफारमेंस', मोतीलाल बनारसीदास, 1993
5. 'संगीत नाटक', खंड XXXVIII, संख्या 2, 2004

उत्तर

अभ्यास-1

(अ) (i) सही (ii) गलत (iii) गलत (iv) सही (v) सही

(ब) (i) वात्स्यायन (ii) ज़ियाउद्दीन बरनी (iii) दरगाह कुली खान (iv) पंडित भतखंडे

(स) 1. उप-भाग 3.1.3 देखें

2. उप-भाग 3.1.4 देखें

अभ्यास-2

(अ) (i) सही (ii) सही (iii) सही (iv) गलत

(ब) (i) आनाया नयनार (ii) शैव नयनमर (iii) कुडुमियामलाई (पुदुक्कोट्टई)
(iv) थ्यागराज

(स) 1. उप-भाग 3.2.2 देखें

2. उप-भाग 3.2.2 देखें

(ड) 1. उप-भाग 3.2.2 देखें

2. उप-भाग 3.2.2 देखें

अभ्यास-3

(अ) (i) तमिलनाडु (ii) केरला (iii) मणिपुर (iv) केरला (v) आंध्र प्रदेश

(ब) (i) पंडित बिरजू महाराज, कुमुदिनी लखिया (ii) सोनल मान सिंह, कुमकुम मोहंती (iii) यामिनी कृष्णामूर्ति, राजा रेड्डी

(स) (i) सही (ii) गलत (iii) सही (iv) सही

(ड) 1. उप-भाग 3.3.4 देखें

2. उप-भाग 3.3.4 देखें

(च) 1. उप-भाग 3.3.4 देखें

2. उप-भाग 3.3.2 एवं 3.3.3 देखें

अभ्यास-4

(अ) (i) सुबंधु (ii) दृष्य, श्रव्य (iii) कुट्टु (iv) चारण

(v) कमलादेवी चट्टोपाध्याय

(ब) (i) सही (ii) सही (iii) सही (iv) सही

(स) 1. उप-भाग 3.4.2 देखें

2. उप-भाग 3.4.3 देखें

(ड) 1. उप-भाग 3.4.2 एवं 3.4.3 देखें

2. उप-भाग 3.4.4 देखें

3. उप-भाग 3.4.6 देखे